रश्मिहास

लेखक :

आनन्दवर्धन रामचन्द्र रत्नपारखी,

विद्यालङ्कार ।

सन् १९५६ ई० ।

लेखक :

आनन्दवर्धन रामचन्द्र रत्नपारखी,
विद्यालङ्कार।

सन् १९५६ ई०।

प्रकाशिका : सौ० इन्दुलेखा रत्नपारखी।
प्राप्तिस्थान : सी-२३०, विनयनगर,
नई दिल्ली।

प्रथम मुद्रण : जनवरी, १९५९ ई०।
मूल्य : दो रुपया बारह आना।

मुद्रक :
एलबियन प्रेस,
कश्मीरी गेट, दिल्ली।

विषय-सूची

दो शब्द

'विहग' के पश्चात् यह 'रश्मिहास' आपके समक्ष प्रस्तुत है। जब मैं 'विहग' का संकलन कर रहा था, तब मैं सोचता था कि अब इससे आगे मैं कविता नहीं लिख पाऊँगा। किन्तु मेरी कविताप्रेयसी का वह पुरातन अनुराग-बन्ध अभी शिथिल नहीं हो सका है। एतावता, यह द्वितीय कविता-संग्रह उसने मुझसे अनायास लिखवा ही लिया। और आज उसे लेकर अपने प्रिय पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हुए मुझे हर्ष हो रहा है।

इस संग्रह में सन् १९४१ से लेकर सन् १९५० तक के दशक में लिखी कविताएँ समाविष्ट की गई हैं। यह काल मेरे जीवन में घोर संघर्ष का रहा है। उपजीविका के लिये भारत के भिन्न-भिन्न भागों में मैं गया हूँ। कहीं सफलता मिली—कहीं असफलता। जिन्हें लोग अपना कहते हैं, उनसे सदैव दूर रहा; किन्तु जहाँ भी गया हूँ, परमेश्वर की कृपा कुछ ऐसी रही कि पराये भी अपने बन गये और इस प्रकार मेरे जीवन में सन्तोष एवं मानसिक समाधान का अजस्र प्रवाह कहीं भी खण्डित नहीं हुआ। दुःख मेरे जीवन में आया अवश्य है, किन्तु उसे सहन करने की क्षमता परमेश्वर ने मुझे ऐसी-कुछ प्रदान की है कि वह मुझे दुःखवत् प्रतीत ही नहीं होता। इस सहन-शक्ति के अमूल्य वरदान के लिये मैं अपने जीवन-स्रष्टा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इस दृष्टि से, यदि मैं कहूँ

कि मुझे अब तक जीवन में किसी अरुन्तुद पीड़ा की अथवा दुःख की उपलब्धि ही नहीं हुई, तो वह वितथ नहीं होगा। कहना होगा कि मेरे जीवन में दुःख का पूर्ण अभाव रहा है। और कदाचित् इसी हेतु मुझे दुःख से एक प्रकार की अद्भुत-सी प्रीति हो गई है। मैं अपने जीवन में दुःख के क्षणों को प्रयत्नपूर्वक खोजता हूँ और उन्हें अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता हूँ। वैसा करने में मुझे हार्दिक आनन्द भी होता है। जो व्यक्ति जन्मतः रंक हो, वह यदि कल्पना के वैभव-लोक में विहार करते हुए अपने ऊपर समृद्धता का अध्यारोप कर ले तो उतने क्षण के लिये वह एक अलौकिक आनन्द का अनुभव कर ही सकता है। यही मेरी भी अवस्था है। मैं कल्पना के दुःखलोक में विचरण करता हूँ और अपने को कुछ क्षणों के लिये दुःखी भी मान लेता हूँ तथा इस मानने में एक अपूर्व रस का अनुभव करने लग जाता हूँ। भगवान् जाने, जो लोग जीवन में वस्तुतः दुःखी हैं, वे अपनी इस महती समृद्धि पर गौरव अनुभव भी करते हैं अथवा नहीं !

मैंने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को देखा है। जीवन के विभिन्न स्तरों के साक्षात् सम्पर्क में आया हूँ। कबाड़ियों और कंचों की मलिनतम भुग्गियों से लेकर भारत-सरकार के राजमन्त्रियों की वैभवपूर्ण कोठियों तक सभी प्रकार के स्थानों का मैं उपनिमन्त्रित अतिथि बना हूँ। ऐसे भी लोग देखे हैं, जिनके सान्निध्य में आने से चरित्रगत जुगुप्सा का दुर्गन्ध दम घोंटने लग जाता है तथा ऐसे भी महापुरुष मैंने देखे हैं, जिनके सान्निध्य में आते ही जीवन की समस्त दाहक अनुभूतियों का एक ही क्षण में निवारण हो जाता है एवं प्रसन्नता का एक अमर सौरभ मानव के आध्यात्मिक उद्यानवन को सुवासित कर उठता है। और इतना सब देखने के पश्चात् मैंने यही अनुभव किया है

कि सुख वहाँ नहीं है, जहाँ बाह्य समृद्धि निवास कर रही है। जो लोग जितने ही साधन-सम्पन्न हैं, वे उतने ही अधिक मानसिक यन्त्रणाओं के आखेट बने हुए हैं; उतने ही अधिक दुःखी हैं। मैं असत्य नहीं कहता हूँ, मैंने अपने इस छोटे-से जीवन में सुख वहीं देखा है, जहाँ साधन-सम्पन्नता नहीं है। अत्यन्त साधनहीन–सम्पत्तिहीन लोग जाने क्यों, उन लोगों की तुलना में, जो बड़े-बड़े पदों पर अधिष्ठित हैं, जिनके पास पर्याप्त पैसा है, जिनकी समाज में अधिक प्रतिष्ठा है तथा जिनके पास किसी भी साधन का अभाव नहीं है, कहीं अधिक सुखी हैं। इसका एक विशेष कारण यह हो सकता है कि 'रस' के यथार्थ 'आस्वाद' की क्षमता ही उन लोगों की कुण्ठित हुई रहती है, जो अभाव से अभिभूत नहीं होते। 'आस्वाद' की वास्तविक क्षमता तो उन्हीं लोगों में रहती है, जिन्हें उतने साधन उपलब्ध नहीं हैं। तब कहना होगा कि वस्तुस्थिति सर्वथा उलटी है। सुखी वे नहीं हैं, जो सुखी कहलाते हैं, सुखी वे हैं जो दुःखी कहलाते हैं। जहाँ बाह्य सम्पत्ति है, वहाँ आन्तरिक घोर दारिद्र्य है तथा जहाँ बाह्य दारिद्र्य है, वहाँ है आन्तरिक दिव्य समृद्धि !

अविनय क्षम्य हो; मैं भी अपने को उन्हींमें से अन्यतम मानता हूँ, जो आन्तरिक दृष्ट्या समृद्ध हैं।

मेरी प्रथम कविता-पुस्तक 'विहग' को पढ़कर कुछ पाठक बन्धुओं ने अपनी सम्मति प्रदर्शित करते हुए कहा है कि मेरी कविताओं में आरम्भ से अन्त तक 'सूक्ष्म' करुणा की धारा प्रवाहित है। मैं उनकी इस सम्मति को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ। मुझे लगता है, मेरा 'अभिनय' सफल हो गया। यह प्रसन्नता साहजिक भी है। क्योंकि अभिनय की सफलता भी तो अभिनेता की प्रसन्नता का कारण होती है न ?

तथापि, पाठकों के भ्रम का निवारण करने के हेतु मैं इतना अवश्य कहूँगा कि, मेरी यह समस्त करुणा आहूत एवं उपनिमन्त्रित करुणा है। मेरे वैयक्तिक जीवन से उसका बहुत दूर का सम्बन्ध है। जिन दिनों मैंने 'विहग' की कविताएँ लिखी थीं, उन दिनों मैं महाविद्यालय में पढ़ा करता था और वह भी गुरुकुल काँगड़ी के साधारण महाविद्यालय में। अपने वयस् के उन्नीसवें वर्ष में मैंने उक्त महाविद्यालय में प्रवेश किया था तथा बाईसवें वर्ष में मैं वहाँ से स्नातक होकर निकला था। उन्नीसवें से लेकर बाईसवें वर्ष तक का काल पूर्ण नवयौवन का काल होता है। उस काल में शरीर की समस्त शक्तियाँ विकसित हो रही होती हैं। एक विचित्र-सी आत्मनिमग्नता, आह्लाद एवं प्रफुल्लता का वह काल होता है। सो, ऐसे वयस् में—जिसे हम पुरुषायुष्य का 'सुवर्ण वयस्' कह सकते हैं—और वह भी उस गुरुकुल काँगड़ी के महाविद्यालय में, जिसका उल्लेख हम सदा 'कृत्रिम स्वर्ग' (आर्टीफीशल पैराडाइज़) कहकर किया करते थे, रहते हुए, मेरे जीवन में करुणा कहाँ से आ सकती थी? मुझे तो स्मरण आता है कि मैं उन दिनों खूब हँसता था और इतना ही नहीं, गुरुकुल की पाक्षिक साहित्य-गोष्ठियों में अपनी हास्यरस-प्रधान रचनाओं से अपने सहाध्यायियों को भी खूब हँसाया करता था।

मेरे यह सब लिखने का तात्पर्य यही है कि, मैं आरम्भ ही से अपने जीवन में पर्याप्त भरा-पूरा रहा हूँ। किसी वस्तु का अभाव मेरे जीवन में नहीं रहा। तथापि अपने आपको कभी-कभी अभाव-अभिभूत 'बना' लेता हूँ और फिर उस अभाव का 'रोना' अपनी इन कविताओं में रोने लग जाता हूँ। यही मेरी कविता की तथानुभूत करुणा का रहस्य है!

जिस काल-कटिबन्ध में मैंने प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ लिखी हैं,

वह भी बड़ा आनन्दवर्धक रहा है। उपजीविका के लिए मैंने संघर्ष अवश्य किया है; किन्तु उसमें जहाँ-कहीं भी सफलता मुझे प्राप्त हुई है, वहाँ मेरा अपना आयास कम और परमेश्वर की कृपा ही अधिक रही है। इस कारण, मेरे जीवन में, उस घोर संघर्ष के काल में भी एक विचित्र प्रकार की निश्चिन्तता सदैव बनी रही। मैं उक्त संघर्ष को संघर्ष का नाम तथा उसके साथ 'घोर' यह विशेषण इस लिए दे रहा हूँ कि सामान्य जन को वह वैसा ही प्रतीत एवं अनुभूत होता है। अन्यथा, मेरी अपनी दृष्टि में तो 'संघर्ष' नाम की कोई वस्तु मेरे लिए कभी रही ही नहीं—न बाह्य, न आन्तर !

पाठकगण कदाचित् मेरी इस वृत्ति का कारण पूछें। इसका कारण भर्तृहरि का एक श्लोक है, जो जीवन-भर मेरे साथ रहा है। उसने मेरी इतनी सहायता की है, जितनी कदाचित् मेरी जीवनसंगिनी सौभाग्यवती इन्दुलेखा ने भी न की होगी। मैं उस श्लोक का अत्यधिक कृतज्ञ हूँ। पाठकों के विनोद के लिये मैं उस श्लोक को यहाँ लिख देता हूँ।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः;
सम इह परितोषो; निर्विशेषो विशेषः;
स हि भवति दरिद्रो, यस्य तृष्णा विशाला;
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ?

इसका सीधा-सादा तात्पर्य यह है कि मनुष्य का साध्य है मनःपरितोष अर्थात् मानसिक सन्तोष। उसे प्राप्त करने के साधन अनेक हो सकते हैं; उदाहरणार्थ, किसी को दुकूल से परितोष होता है तो किसी को वह वल्कल से ही प्राप्त हो जाता है। अतः साधनों की भिन्नता

रहते हुए भी साध्यरूप परितोष सर्वत्र समान है। उसमें ईदृक्तया तथा इयत्तया कोई भिन्नता नहीं आती। इस अवस्था में, दरिद्र वह है, जिसका मन परितुष्ट नहीं है, जिसकी तृष्णा बहुत बड़ी है। जिसकी तृष्णा जितनी बड़ी होगी वह उतना ही बड़ा दरिद्र होगा। मन के परितुष्ट हो जाने पर फिर धनी और निर्धन का भेद रह ही कहाँ जाता है?

यह श्लोक एक दिव्य मन्त्र बन कर सदैव मेरे सम्मुख रहा है—विद्युद्दीप्त अक्षर-तन्तुओं से प्रकाशित एवं अभिज्वलित दिव्य आकाश-देश की भाँति। इस श्लोक को तथा इस श्लोक के रचयिता भर्त्तृहरि को अत्यन्त नम्रता एवं कृतज्ञता पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

इसी प्रसंग में मैं एक अन्य श्लोक उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। वह श्लोक भी इतना ही मूल्यवान् है।

> अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ?
> उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति।

अर्थात् अपने से निचलों की ओर देखने वाला कौन व्यक्ति अपने को बड़ा नहीं समझ बैठता? किन्तु अपने से ऊपर वालों की ओर देखने से हर कोई दरिद्र बन जाता है।

इससे भी व्यक्ति को अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखने में बहुत सहायता प्राप्त होती है।

* * *

इस संग्रह की कुछ-एक कविताएं विवाहपूर्व काल की हैं। शेष सभी विवाहोत्तर काल की। मेरे जीवन में मेरी जीवनसंगिनी इन्दुलेखा का

अवतरण एक विचित्र उन्माद को लेकर आया है। इन रचनाओं में अनेक ऐसी रचनाएँ हैं, जिनके लिए मेरा अन्तःकरण सदा अपनी अर्द्धांगिनी 'इंदू' का कृतज्ञ रहेगा।

कुछ रचनाएँ पद्य में हैं, कुछ गद्य में तथा कुछ 'निविद्' रूप में हैं। 'निविद्' वैदिक शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ 'निवेदन' से मिलता-जुलता है। किन्तु पारिभाषिक अर्थ में यह उस प्रकार के लेखन के लिये प्रयुक्त होता है, जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों एकात्म हो गये हों, गद्यात्मकता एवं पद्यात्मकता एक ही स्थान पर सामानाधिकरण्यपूर्वक निवास करती हो। यों चम्पू भी 'गद्यपद्यमय' होता है। किन्तु वहाँ गद्य पृथक् तथा पद्य पृथक् रहता है। गद्य और पद्य का व्यामिश्रण वहाँ नहीं होता। संक्षेपतः, ऐसी रचना, जिसमें कुछ लक्षण पद्य के हों और कुछ लक्षण गद्य के हों, वैदिक परिभाषा में 'निविद्' कहलाती है। पाठकों को इस संग्रह में कुछ-एक 'निविद्' के निदर्शन उपलब्ध होंगे।

बहुत से स्थानों पर मेरा पद्यलेखन शिथिल हो गया है। वह मेरा वयोदोष है। एक समय था, जब मैं छन्दःशास्त्र के प्रत्येक नियम का बहुत ही आस्थापूर्वक पालन किया करता था। एक भी मात्रा के ऐतस्ततय से 'पुत्रमरण' की-सी पीड़ा अनुभव होती थी। तब मैं बहुत सतर्कता एवं जागरूकता से काम लिया करता था। किन्तु वयोवृद्धि के साथ-साथ प्रमाद में भी वृद्धि होती चली गई। अतः, कुछ-एक पद्यों में 'गतिभंग'-सदृश दोष पाठकों को अवश्य दृष्टिगोचर होंगे। कविताएँ मैं आजकल भी लिखता हूँ; परन्तु छन्दःशास्त्र के नियमों का पालन अब मुझसे बहुत कम होता है। वह अब कठिन भी प्रतीत होने लग गया है।

प्रस्तुत संग्रह में, मेरी एक रचना अत्यन्त दुरूह हो गई है। उसका शीर्षक है—'तुम मांग रही हो'। वह मैंने नारी-जगत् को लक्ष्य करके लिखी है। उसमें मैंने नारी से यही कहा है कि, वह बहिर्मुख हो रही है; अतः उसकी तृषा शान्त नहीं हो पाती। यदि वह अन्तर्मुख हो जाय, तो उसे अपने भीतर ही वह सब-कुछ प्राप्त हो जायगा, जिसके लिये वह युग-युगान्तर से आकुल है। अर्थ तो बहुत ही साधारण है; किन्तु उसकी वाक्यरचना इतनी उलझी हुई है कि विशेषण, विशेष्य तथा क्रियाविशेषणों का यथावत् क्रम पाठक के ध्यान में तत्काल किंवा मस्तिष्क पर किंचित् बल देने पर भी नहीं आता। यदि क्रम ध्यान में आ भी जाय तो उक्त कविता में प्रयुक्त शब्दों की परस्पर संगति नहीं बैठती। आपाततः, यह बात ऐसी ही है। मैं इस दुरूहता के लिये पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। तथापि इतना कह दूँ कि जब मैं वह कविता लिख रहा था, तब मेरे मस्तिष्क में उस कविता की पंक्तियों का एक स्पष्ट अर्थ-चित्र विद्यमान था। वह इस समय भी है; किंतु यदि कोई मुझ ही से उस कविता का अर्थ बताने को कहे तो सुलझे हुए वाक्यों में उक्त अर्थ-चित्र को स्पष्ट करने के लिये मुझे पर्याप्त आन्तरिक आयास करना पड़ेगा। ऐसा कभी-कभी हो जाता है। अपनी इस विवशता को उन्मुक्त रूप से स्वीकार करने के अतिरिक्त मेरे समीप इस समय अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः, मैं इसे यहीं स्वीकार किये ले रहा हूँ।

इस संग्रह में मैंने किस कवि की प्रतिभा से अपने आपको अनुगृहीत एवं लाभान्वित किया है, यह कहना मेरे लिये कठिन है। इन कविताओं के रचनाकाल में मैं हिन्दी-जगत् से बहुत दूर रहता था। अतः, मैं किसी तत्कालीन हिन्दी-कवि का प्रभाव अपने ऊपर ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ रहा। कुछ ऐसा कहने को जी चाहता है कि, इन रचनाओं में, मैंने अन्य किसी रचनाकार से किसी प्रकार का प्रभाव ग्रहण न करके किसी सर्वथा

स्वतन्त्र मार्ग का (जिसे संस्कृत में, 'मुरारेस्तु तृतीयः पन्थाः' कहा जाता है) अनुसरण किया है। एक विशिष्ट लय-सूत्र को पकड़ कर अनेक ह्रस्व-दीर्घ वाक्यात्मक आवर्त्तों एवं विवर्त्तों में से होते हुए अपने भावों को आगे बढ़ाने का प्रयास इन समस्त रचनाओं में किया गया है। मेरी इन रचनाओं पर कहीं-कहीं महाराष्ट्रीय तथा कहीं-कहीं आन्ध्र वाक्य-शैली का प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता होगा, ऐसी मुझे शंका है। मैं महाराष्ट्रीय हूँ और इन कविताओं के रचनाकाल में रहता भी महाराष्ट्र में ही था। अतः, मराठी का कुछ न कुछ प्रभाव मुझ पर रहे, यह स्वाभाविक ही है।

महाराष्ट्रीय होने के नाते मैं मानता हूँ कि, मराठी भाषा का मुझ पर पूर्वाधिकार है। इसीसे मैं अपनी पत्नी और अपने पुत्र-पुत्रियों तथा अपने महाराष्ट्रीय मित्रों से अहर्निश बोलता रहता हूँ। यह वह भाषा है, जिसे संसार के किसी भी कोने में पहुँचने पर, अकस्मात् किसी व्यक्ति के मुँह से सुन लेता हूँ तो वहीं ठिठक जाता हूँ तथा उस व्यक्ति के साथ तत्काल आत्मीयतापूर्ण दो-चार बातें किये बिना मेरे अन्तः करण को स्वस्थता अनुभव नहीं होती। आकाशवाणी के माध्यम से कहीं भी यदि मैं इस भाषा के अभंग, ओवी, पद, श्लोक तथा भावगीत आदि सुनता हूँ, तो मेरी आँखें आज भी हर्षाश्रुओं से आर्द्र हो उठती हैं। इतनी तीव्र आत्मीयता, आकर्षण तथा आसक्ति मेरे मन में इस मराठी भाषा के प्रति है। पर कभी-कभी मैं सोचता हूँ, मैंने अपने जीवन में, अपनी इस मराठी भाषा के लिये क्या किया है? उसकी क्या सेवा की है? तो मेरा मन विषण्ण हो उठता है। अपने जीवन में मैंने मराठी के लिये कुछ भी नहीं किया। पर मैं पुनः सोचता हूँ, मैंने अपने इस जीवन में किसके लिये क्या किया है? किसकी क्या सेवा की है? किसी की भी तो नहीं! मनुष्य मन ही मन बहुत बड़ी-बड़ी आकांक्षाओं का एक स्तूप-सा

निर्माण करता है—मैं जब बड़ा होऊँगा, तब यह करूँगा और वह करूँगा—किन्तु वास्तव में जब कुछ करने का समय आता है, तब उसकी वे सारी आकांक्षाएँ धरी की धरी रह जाती हैं। उसकी एक भी इच्छा उसके स्वप्नों के अनुरूप पूर्ण नहीं हो पाती। सो, यही कुछ मेरे साथ भी हुआ है। तथापि, एक बात की सान्त्वना है। मराठी में मैं कुछ भी न लिख सका, तो भी अपने इस संग्रह की प्रथम रचना को मैंने मराठी के 'अभंग' छन्द में लिख कर मराठी भाषा के ऋण से अंशत: मुक्त होने का कुछ उपाय अवश्य कर लिया है। अभंग हमारी मराठी भाषा का अनुष्टुप् है। इसके गाने के अनेक हृदयग्राही प्रकार हैं। ये प्रकार महाराष्ट्र के संस्कृतिसमृद्ध घरों में सुरक्षित हैं। यह छन्द:प्रकार मराठी शब्दों के लिये जितना अनुरूप बैठता है, उतना हिन्दी-शब्दों तथा हिन्दी-कण्ठ के लिये अनुरूप बैठेगा अथवा नहीं, यह अभी द्रष्टव्य है।

हमारी मराठी में अभंग-लेखन के लिये तुकाराम की अधिक प्रसिद्धि है। अभंग बहुतों ने लिखे हैं। आज भी लिखे जाते हैं। किन्तु तुकाराम के अभंगों का कुछ अपना ही माहात्म्य है। मराठी काव्यवाङ्मय के किस महापुरुष का किस छन्द:प्रकार से सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इसे सूचित करने वाली मराठी की एक आर्या मेरे स्वर्गीय पिता मुझे सुनाया करते थे। वह यों है :—

सुश्लोक वामनाचे;
अभंगवाणी प्रसिद्ध तुकयाची;
ओवी ज्ञानेशाची—
किंवा, आर्या मयूरपंताची।

अर्थात् वामन पंडित नामक कवि अपने श्लोकों के लिये प्रसिद्ध है;

तुकाराम अभंगों के लिये; ज्ञानेश्वर अपनी ओवियों के लिये तथा मोरो पंत अपनी आर्या के लिये प्रसिद्ध है। ये सब मराठी के इतिहासकालीन कवि हैं। इन सबमें तुकाराम के अभंग सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। वे महाराष्ट्रीय लोकशरीर में रक्त, मांस, अस्थि तथा मज्जा बन गये हैं; जैसे हिन्दी वालों के लिये तुलसीदास के दोहे और चौपाइयाँ। अतः अभंग को मराठी का प्रातिनिधिक छन्दःप्रकार माना जा सकता है।

मुझे हिन्दी में इन अभंगों को लिखने की प्रथम प्रेरणा कहाँ से मिली इस की कथा यों है। मैं उन दिनों, गुलबर्गा (हैदराबाद राज्य) में एक धनी सज्जन के घर पर ठहरा हुआ था। उनके एक मराठा नौकर था। वह अपने मालिक का सारा कामकाज कर चुकने के पश्चात् अपने कमरे में आता और स्नान इत्यादि से निवृत्त हो, कमरे में रखे हुए अपने इष्टदेव के चित्रके सम्मुख खड़ा होकर, अत्यन्त भक्तिभाव से, करतालवादनपूर्वक, प्रतिदिन नियम से तुकाराम के कुछ अभंग गाया करता था। यही उसका दैनिक सन्ध्या-वन्दन था। उन अभंगों में, वह एक अभंग यह भी गाता था —

तुका म्हणे, तुला
वाचवीना कोणी;
एका चक्रपाणी
वांचोनिया ।

मैं चुपचाप खड़ा उसका यह अभंगपाठ सुना करता था। उसके

इस अभंग को सुनकर मेरी आँखों में आँसू उमड़ आते थे। आज भी कभी-कभी किन्हीं भावुकतापूर्ण, अत्यन्त सुकुमार क्षणों में, इस अभंग को स्मरण करके मैं रो पड़ता हूँ! इस अभंग का अर्थ केवल इतना ही है कि, 'तुका कहता है कि, इस संसार में, इस समस्त चराचरचक्र के संचालक उस चक्रपाणि को छोड़ अन्य कोई तेरी रक्षा नहीं कर सकेगा'। सो, इन अभंगों को उस मराठा भृत्य के अत्यन्त सरल एवं अबोध कण्ठ से सुनकर मेरे मन में भी तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि, मैं भी अभंग लिखूँ, जो इसी स्वर में गाये जा सकें। और उसी इच्छा के फलस्वरूप मैंने ये अभंग हिन्दी में लिखे हैं। मुझे ज्ञात नहीं, किसी अन्य ने भी हिन्दी में अभंग लिखे हैं अथवा नहीं। 'तुकारामाची गाथा' नामक तुकाराम-लिखित अभंगों का संग्रह-ग्रन्थ पढ़ते समय, मुझे स्मरण आता है, मैंने कुछ रचनाएँ तुकाराम ही की हिन्दी में लिखी हुई पढ़ी थीं। वे रचनाएँ तुकाराम ने अपने सहजस्वभाववश यदि अभंग छन्द ही में लिखी हों, तो निश्चय ही हिंदी में लिखे गये वे पहले अभंग होंगे।

तुकाराम के जिस अभंग का उद्धरण मैंने ऊपर दिया है, उसके बाह्य कलेवर को देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार के अभंगों में प्रत्येक के चार चरण होते हैं। पहले, दूसरे तथा तीसरे चरण में, प्रत्येक में छह-छह अक्षर होते हैं तथा चौथे चरण में चार। दूसरे तथा तीसरे चरण के अन्त्य पदों में ध्वनि एवं मात्रा का साम्य अर्थात् 'अन्त्य-साम्य' अथवा 'साम्य-बन्ध' रहता है। यों, देखने से प्रतीत होता है कि, लघु-गुरु का कोई निश्चित नियम अभंगों में नहीं पाला जाता। मैंने जो अभंग लिखे हैं, उनमें भी लघु-गुरु का कोई विचार नहीं किया गया है। जिस लय-सूत्र में, इन्हें गाया जाता है, उसके अनुरोध से लघु को गुरु एवं गुरु को लघु पढ़ लिया जाता है। महाराष्ट्र में यही प्रचलित है। किंतु मुझे अब यह अनुभव हो रहा है कि अभंग को भी लय-सूत्र के

अनुरोध से किन्हीं निश्चित लघु-गुरुओं में बाँधा जा सकता है। तद्यथाः–

प्रथम प्रकार :—

ऽ।ऽ।ऽऽ(र य)
ऽ।ऽ।ऽऽ(र य)
ऽ।ऽ।ऽऽ(र य)
ऽऽऽऽ(म ग)

द्वितीय प्रकार : —

ऽ।।ऽऽऽ(भ म)
ऽ।।ऽऽऽ(भ म)
ऽ।।ऽऽऽ(भ म)
ऽऽऽऽ(म ग)

इस प्रकार यदि अभंग भी छन्दःशास्त्र के नियमों के निश्चित साँचों में कस दिया जाय तो इसे 'विषमपाद, किंवा 'पादोनसमवृत्त' का रूप दिया जा सकता है।

अस्तु। जैसा कि 'विहग' के 'दो शब्द' से ध्वनित होता है, मुझे ऐसा अनुभव होता था कि 'विहग' की उन रचनाओं के साथ-साथ मेरे जीवन का काव्य-काल समाप्त हो जायगा अर्थात् गुरुकुलीय जीवन की परिसमाप्ति ही मेरे कवि-जीवन की समाप्ति सिद्ध होगी। परन्तु उक्त मराठा बन्धु के उन अभंगों ने विशेषकर उस अभंग ने जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, मेरे जडप्राय अन्तःकरण को आन्दोलित करके मेरा विलुप्त कवि-जीवन मुझे पुनः प्राप्त करा दिया। इसे मैं कवि-रूप में अपना पुनर्जन्म मानता हूँ। यदि कवि-जीवन वस्तुतः कोई गौरव की एवं अहोभाग्य की वस्तु है, तो उसे पुनः प्राप्त करा देने वाले उस

अविज्ञातनामधेय मराठा बन्धु के कण्ठ से गाये गये तुकाराम के उन अभंगों का मुझे चिरकाल तक ऋण स्वीकार करना चाहिए। परन्तु यह कौन कह सकता है कि कवि होना निश्चित रूप से गौरव तथा अहोभाग्य की वस्तु है ही ?

अन्त में, इस पुस्तक की प्रकाशिका अपनी जीवनसंगिनी सौ० इन्दुलेखा रत्नपारखी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। यदि इस पुस्तक के प्रकाशन-कार्य में उसकी सहायता न होती तो यह पुस्तक वर्षों तक अप्रकाशित ही पड़ी रहती। यह उसीका मधुर आग्रह और अनुग्रह है, जो आज मेरी ये रचनाएँ पाठकों की सेवा में उपस्थित होने जा रही हैं। यों, पति और पत्नी का अस्तित्व एक ही होता है, भेद केवल कलेवर एवं अभिधान ही का रहता है; अतः पति का अपनी पत्नी को धन्यवाद देना अपने ही को धन्यवाद देने जैसा है। तथापि, पत्नी द्वारा की गई सहायता का उल्लेख न करना मेरे लिये कृतघ्नता होगी। परमेश्वर करे, जिस हेतु से उसने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार अपने कन्धों पर लिया है, वह सफल हो। तथास्तु।

सी–२३०, विनयनगर,
नई दिल्ली,
१.७.'५५ ई०।

— आ० रा० रत्नपारखी।

प्रकाशिका की ओर से

मेरे पति श्री आनन्दवर्धन ने अपने आरम्भिक वक्तव्य में कुछ पंक्तियाँ मेरे सम्बन्ध में भी लिखने की कृपा की है। मैं मानती हूँ कि, पति को पत्नी के सम्बन्ध में तथा पत्नी को पति के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक पंक्तियाँ लिखने का अधिकार रह नहीं जाता; क्योंकि वह प्रशंसा तो 'अन्धे की रेवड़ी' हो जाती है। तथापि, मैं यहाँ दो-एक पंक्तियाँ लिखने की धृष्टता कर रही हूँ।

मैंने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार अपने कन्धों पर लिया है, इसका अर्थ इतना ही है कि, इस कार्य में लगने वाली सारी अर्थराशि मैं प्रदान कर रही हूँ। पर यह अर्थराशि मेरे पास आई कहाँ से ? मैं न कोई नौकरी करती हूँ, न मेरे मातृगेह से ही मुझे यह पैसा मिला है। यह सारा पैसा मूलतः आनन्दवर्धन ही का है। उन्हीं का अर्जन है। वे पैसों के सम्बन्ध में बहुत उदासीनता से काम लेते हैं। न उन्हें उनकी चिन्ता ही रहती है, न उनके प्रति आसक्ति ही। वेतन मिला कि उसे मेरे हाथों पर रख दिया। उसके पश्चात् वे सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं। मुझसे पूछते तक नहीं कि उस वेतन का आगे क्या हुआ ? फलतः, आनन्दवर्धन के पैसों की यह चिन्ता अब अनिच्छा-पूर्वक मैंने अपने सिर ले ली है। पुरुष यदि विनियोजन की चिन्ता से सर्वथा पराङ्मुख हो जायें तो स्त्रियों को इस कार्य के लिये अपने आपको आगे लाना ही पड़ता है। अन्यथा यह प्रपंच-रथ चले कैसे ?

हाँ, तो जो पैसा आनन्दवर्धन मुझे देते चले गये, उसे मैं संगृहीत करती चली गई। बहुत कौशल्यपूर्वक यह कार्य मुझे करना पड़ा। आज उन्हीं की वस्तु मैं उन्हें दे रही हूँ—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये' इस न्याय के अनुसार। इसे आनन्दवर्धन मेरा 'अनुग्रह' कहते हैं। मैं उनके इस कथन को ही अपने प्रति अनुग्रह समझती हूँ।

ये कविताएँ वर्षों से आनन्दवर्धन की कापियों में लिखी पड़ी थीं। मैं उन्हें प्रकाशित रूप में देखने को उत्सुक थी। अबतक साधनों के अभाव से मैं इस दिशा में कुछ न कर सकी। पर अब, जब मैंने देखा कि मेरे समीप इन कविताओं के प्रकाशन के लिये आवश्यक अर्थराशि एकत्र हो चुकी है, मैंने उचित समझा कि इन कविताओं को प्रकाशित कर दिया जाय। एक संग्रह आनन्दवर्धन स्वयं प्रकाशित कर चुके हैं। दूसरे संग्रह के प्रकाशन में योगदान का पुण्य मैं प्राप्त कर रही हूँ। पाठक बन्धुओं का इससे मनोरंजन हो, यही मेरी आन्तरिक आकांक्षा है।

—सौ० इन्दुलेखा रत्नपारखी।
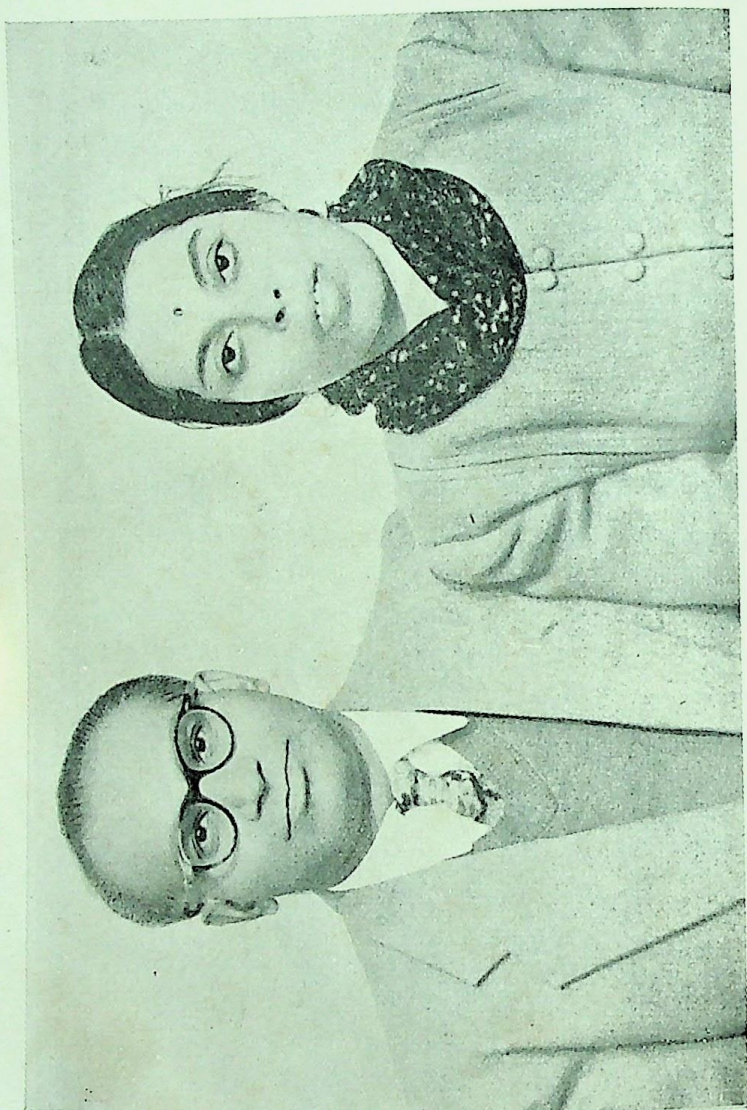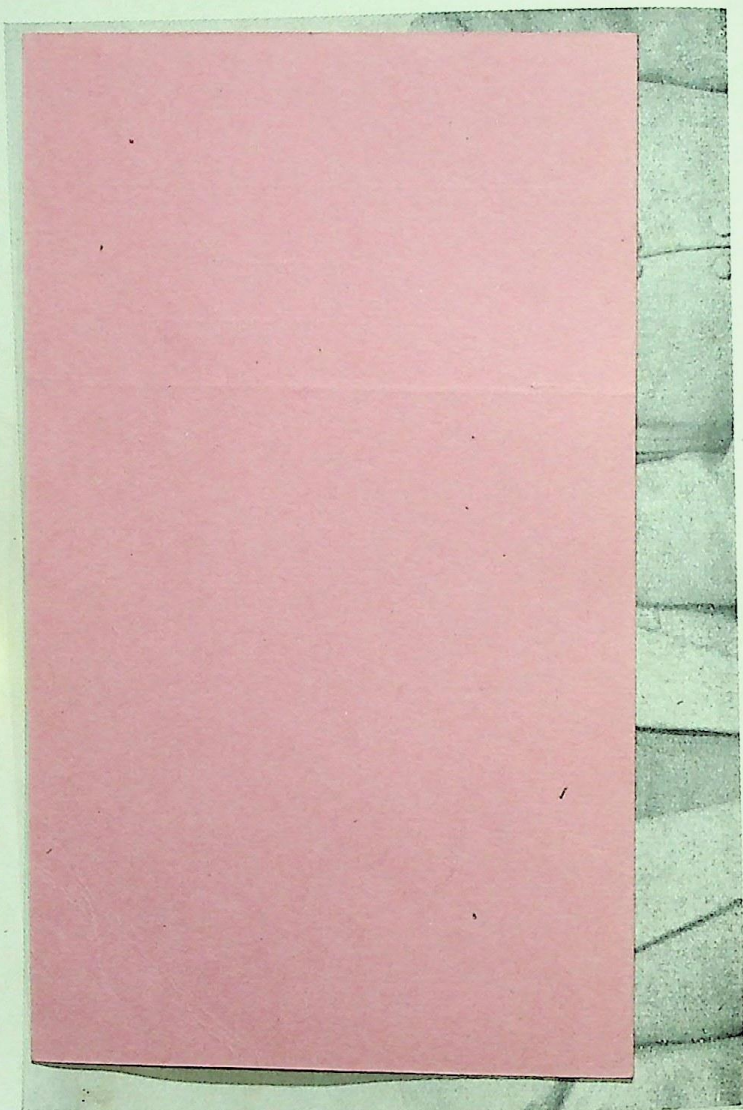
आनन्दवर्धन

इन्दुलेखा

आनन्दवर्धन इन्दुलेखा

रश्मिहास

(अभंग)

देखता हूँ नित्य
सूर्य - रश्मिहास,
पुष्पों का विकास
हर्ष-भरा ।

दूर सरोवर
वीचियों से लोल
करता किलोल
मग्न होके ।

बहता सुगन्धी
वायु मन्द-मन्द;
कितना आनन्द
विश्व पाता!

छोटे-छोटे क्षुप,
वृक्ष बड़े-बड़े,
सब ही हैं खड़े
रस-मत्त ।

झूमते सताल
तरु - शाखा-पत्र,
मचा है सर्वत्र
नृत्योत्सव ।

गिरि-प्रस्रवण
भर सप्त स्वर,
करते मुखर
दिङ्मण्डल ।

स्तब्ध या उदास
नहीं आसमान;
इस का भी गान
होगा कोई !

ऐसे गीत-मग्न
विश्व में हे देव,
क्यों हूँ एकमेव
मैं ही भग्न ?

सत्य; लोक मेरा
छूट गया दूर,
तभी चूर-चूर
आशा मेरी !

देखता हूँ मेरी
आँखें आज रिक्त;
नहीं अश्रु-सिक्त
पक्ष्म मेरे!

मेरे द्रव-पूर्ण
सारे मञ्जु गीत
खागया अतीत;
भाग्य मेरा !

चलता है जैसा
चले विश्व-चक्र;
मेरी गति वक्र
वैसी रहे ।

एक दिन मैं भी
हूँगा मोद-पूर्ण,
रहे चूर्ण-चूर्ण
चित्त चाहे !

दुःखों के पहाड़
टूटें सिर पर
तो भी नहीं डर
रत्ती भर ।

मैं तो दुःखों को ही
दूँगा ऐसा रुख,
हो जावेंगे सुख
मेरे लिये !

नहीं कोई ऐसा
हुआ दीन-हीन,
रहे पंक-लीन
सर्वदा ही ।

गुलबर्गा,
१०.६.'४१ ई० ।

आई दीवाली

आई दीवाली; चली गई; बुझ गये प्रकाशित दीप सकल;
गलियों, चौराहों, राहों की हो गई शान्त सारी खलबल;
अब केवल कुछ-ही मनुजों की पगचाप सुनाई देती है;
थी जो बरसाती बाढ़, गई; रह गया शेष निःस्पृह कलकल।

वे स्थान, जगमगाते थे जो, अँधियारे होते जाते हैं;
क्रमशः निद्रा के अंकागत जन सारे होते जाते हैं;
मैं देख रहा हूँ टक बाँधे उस आसमान की ओर अभी–
किस भाँति दीप्ति से पूर्ण गगन के तारे होते जाते हैं!

मैं सोच रहा हूँ एकाकी–यों व्यर्थ यहाँ घबराऊँ क्यों?
रस-भरी नियन्ता की कृति में मैं ही रसहीन कहाऊँ क्यों?
जग सारा मना चुका उत्सव जिस भाँति मना सकता था वह;
मैं भी कुछ अपना छोटा-सा उत्सव-सा नहीं मनाऊँ क्यों?

जगती ने हर्षाकुल होकर कुछ रसमय गाने गाये थे;
कुछ मोद और आमोद-भरे वे प्रणय-तराने गाये थे;
हो उठा स्मरण–रे, मैं भी कुछ रखता हूँ क्षमता गाने की;
मैंने भी कभी प्रमोद-भरे कुछ स्वर मनमाने गाये थे।

ये दीपक चमक रहे मेरे इस आसमान के आँगन में;
है कितना निर्मल स्नेह भरा इनके लघु ज्योति-भरे तन में !
जग एक वर्ष के बाद कहीं है दीपावली मना पाता,
आती यह दीवाली मञ्जुल प्रतिदिन ही मेरे जीवन में।

गहरी निद्रा में सोया जग; मैं अपना पर्व मनाता हूँ;
अपना एकाकी जीवन यह क्षण-भर को मधुर बनाता हूँ;
जग चौंक न जाये सुन कर के इस हेतु बहुत ही धीमे-से
स्वर में कुछ हर्ष-भरे अपने जीवन के गाने गाता हूँ।

कुछ दूर, उदधि की लहरें भी लो, लगीं मिलाने स्वर में स्वर;
कर उठा साथ देने को यह शीतल समीर भी मधु मर्मर;
ये नीरव नभ के तारे भी हो उठे तरंगित-आन्दोलित;
मानों सम्पूर्ण अवनि-अम्बर के लगे काँपने युग्म अधर।

इससे बढ़कर मुझ दुखिया का होगा कैसा वह दीपोत्सव ?
इन तारों से बढ़कर मेरा होगा कैसा वह मणिवैभव ?
नीरव निशीथ में मुझको जो संगीत सुनाई पड़ता है,
उससे बढ़कर भी क्या कोई जगती में गायन है सम्भव ?

दीवाली की रात (निशीथ),
मद्रास,
२०.१०.'४१ ई०।

उर चञ्चल

हो रहा आज उर चञ्चल-सा कुछ गीत बनाने-गाने को;
कुछ ओस-बिन्दु-सम रोने औ' कुछ कुसुम-सदृश मुसकाने को।

स्मृतियों पर स्मृतियाँ मेरे गत जीवन की सम्मुख आती हैं;
कुछ रुला, हँसा कुछ, अन्तर में फिर ज्वाला-सी धधकाती हैं।

कितने कल-मञ्जुल गान गये, कितने उठते अरमान गये;
कितने उल्लास-विलास-भरे वे प्रमुदित सान्ध्य-विहान गये;
मधु स्वप्न-भरे उन पलकों के मुँदने-खुलने का काल गया;
वह प्रणय गया, स्मृति-शेष प्रणय का जराजीर्ण कंकाल गया।
सब चले गये; इस जगती का है रेणु-रेणु जाने ही को;
खिलती है कलिका सुरभि-भरी चुपके-से मुरझाने ही को;
क्यों व्याकुल होते हो हे मन, आयेगा वह भी दिन सत्वर,
चल देगा जिस दिन सहसा इन अधरों का कलकलकम्पित स्वर।

कल ही की बीती बात हरे, मन्वन्तर-दीर्घ भग्न स्मृति-सी !
जगती की गतिमय लीला भी है सचमुच एक चमत्कृति-सी !

उफ़्, क्या-कुछ देखा करता था, अब क्या-कुछ देख रहा हूँ मैं;
बैठा उस दूर-अनागत की छवि को अवरेख रहा हूँ मैं।

मैं देखा करता था पहरों उन हरे-भरे उद्यानों को;
पसरे दिगन्त की रेखा तक उन खेतों को, खलिहानों को;
मैं देखा करता था निसर्ग के विविध पर्ण-परिधानों को;
लगता था, देख रहा हूँ मैं आँखों से कवि के गानों को !
सूरज की किरन चमकती थी—चमचम करता था वसुधातल;
भर उठता था जगती-भर को विहगों का कोमल कोलाहल;
करता था टलमल दूर कहीं मुक्ता के द्रव-सा नीर विमल;
खिल उठता था ऐसे क्षण में मेरे भी मानस का शतदल।

मृदुनील पर्वतों के पीछे झाँका करते थे शुभ्र शिखर;
लगता था किसी चिरन्तन की है गई वहाँ मुस्कान बिखर;
करने लगती थी मेरे भी ओठों पर स्मितिरेखा नर्तन;
हो उठता था आह्लादित तब कितना यह मेरा लघु जीवन !

ये शिखर वही थे, जिन्हें कभी बाल्मीकि-व्यास ने देखा था;
ये शिखर वही थे, जिन्हें कभी कवि कालिदास ने देखा था;
इन ही हिम-शिखरों से जग ने पाया है युग का उद्बोधन;
वसुधा के कोने-कोने में है ध्वनित इन्हीं का दिव्य स्वन।

ये छूट गये मानों जीवन के गीत-तन्तु ही टूट गये;
बरसों के सञ्चित-संवर्धित स्वारस्य-कलश ही फूट गये;

वे हाव गये, वे भाव गये, वह कोमल हृदय-द्राव गया,
औ' गया अरे, कवि का उज्ज्वल मुक्तामय नयन-स्राव गया।

मैं कितना रोया और हँसा हूँ देख-देख नव नील गगन;
हर लेते थे कितना मेरे नयनों को नभ के हीरक-कन;
जब कभी व्योम के प्रांगण में करते थे क्रीडा श्यामल घन,
तब उर के द्रव से जाने क्यों, भर उठते थे मेरे लोचन।

मेरे घन, भूल सकूँगा क्या अपने जीवन की वे घड़ियाँ;
बरसाया करते थे तुम जब भर-भर कर मोती की झड़ियाँ;
मैं पिरो उन्हें स्वर-सूत्रों में तुमको पहनाया करता था;
उन्मद हो गद्गद नद-सा कुछ मन ही मन गाया करता था।

वह बीत गया युग; अब तो इस जीवन में नवयुग आया है;
नव वृन्त, कुसुम नव, समन्ततः नव-नव सुगन्ध ही छाया है;
इस युग के स्वागत में भी गत कुछ नई बजानी ही होगी—
अब नई रागिणी भी कोई बरबस अपनानी ही होगी !

मैं देख रहा हूँ, प्राची में अरुणाई छाती आती है;
दूरस्थ क्षितिज की रेखा कुछ मृदु आभा पाती आती है;
कर में अर्चन-आराधन को वह कनक-विनिर्मित थाल लिये,
मैं देख रहा हूँ, मन्द-मन्द ऊषा मुसकाती आती है !
यह मुग्ध मलय-मारुत कैसा बह उठा आज स्वर-भर-मन्थर;
हो उठे आज कैसे सहसा वन-तरुओं पर कलविंक मुखर;

क्यों आज कलकलाकुल इतना मेरा एकान्त उटज-आँगन;
क्या कोई आने वाला है इस घर में अद्‌भुत परिवर्तन ?

हे देव, कृपा के वरुणालय, मेरे युग-युग के जीवन-धन,
मैं आज एक अनुयोग लिये आया हूँ अन्तेवासी बन;—
आयेगा जिस दिन मेरी इस कुटिया में कोई परिवर्तन,
छिन तो न जायगा कहीं हरे, इस उर का वह शाश्वत कम्पन?

मद्रास,
३०. २.'४२ ई० ।

नमस्कार

नमस्कार,
नमस्कार,
नमस्कार,

मायामय, हे नव विप्लव के सूत्रधार !
निद्रित निशीथ में,
तुम्हीं एक उत्स्वप्न, जागरित प्रहरी;
सन्तप्त ग्रीष्म में
तुम्हीं एक अतिशीतल मारुत-लहरी;
विश्व जड-जंगम के त्राण,
दीन-दलितों के असहायों के प्राण,
आज तुम्हारी ही पलकों पर
तुलित हो रहा वसुन्धरा के
दीर्ण हृदय के अश्रु-बिन्दु का भार !
नमस्कार,
नमस्कार,
नमस्कार !

उर के कक्ष-कोण में संचित
मानवता के महामलीमस कल्मष का अँधियारा
प्रक्षालित करते तुम अहरह,
लेकर किरणमयी दुग्धद्रव-धवल, अमल वह
अभिनव ज्योतिर्धारा;

लोकमंगल के अमुखर गीत !
अन्तर्मर्म तुम्हारा ही तो
नील व्योम के विपुल रूप में
हुआ जा रहा स्फीत ।

आज तुम्हारे ही कम्पोन्मुख
अधर-कपाटों पर सम्पिण्डित
निखिल सृष्टि के पीडित प्रजावर्ग का परवश,
उद्धत हाहाकार !
नमस्कार,
नमस्कार,
नमस्कार !

कोटि-कोटि कल कण्ठ विश्व के
करते अद्य निनादित स्वर से
समुदित जयजयकार ।
कोटि-कोटि कर अर्पित करते
अन्तस्तल के कलुष-शून्य भावों से निर्मित
वे सुरभित सुम-हार !

कोटि-कोटि कलगान,
गुंजित करते ब्रह्मनिलय के कोण-कोण में—
तव पावन अभिधान !

आज तुम्हारे युग-चरणों पर
अविश्रान्त विश्रान्ति पा रहा
मानवता के कोटि-कोटि मस्तकसमूह का
लुठित वीचिमय शुचि समुद्र साकार !

नमस्कार,
नमस्कार,
नमस्कार !

तुरुमेल्ला,
आन्ध्रदेश,
सन् १९४२ ई० ।

दीवाली के दीप
(गद्य)

दीपशिखायें जाग उठीं !

चारों ओर प्रकाश की एक स्पृहणीय जगमगाहट मानव-राष्ट्र के हृदय-कक्षान्तरालों में उल्लास का नवीन संचार कर रही है। शताब्दियों से रोते हुए, उदास, उत्साहशून्य, जडनम्र मानव मुखाकृतियों पर मुस्कराहट की कुसुमरेखा-सी खिलवाड़ कर उठी है।

अन्धकार अभी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ। अमावास्या की अन्धकारमयी रात्रि अभी अपने पूर्ण उग्रतम रूप में घनीभूत होती चली जा रही है। उसके कृष्णच्छायावरण को खण्ड-खण्ड करने के लिये तो सूर्योदय की प्रचण्ड उत्ताप-पूर्ण रश्मियाँ ही चाहियें। इन नन्हीं-नन्हीं दीये की बत्तियों से क्या बनने वाला है इस दिगन्तविस्तीर्ण अन्धकार के किमाकार दानव का ?

फिर भी हम अभिनन्दन करते हैं, इन दीप-शिखाओं का। ये दीप-शिखायें प्रतीक हैं--असन्तोष का, बेचैनी का, अमर्षण का। यह एक स्पष्ट विद्रोह का उपक्रम है।

वे लोग जो चुप हैं, आतंकित हैं, जिन्ह गन्तव्य मार्ग सूझ नहीं रहा है, जो भटक रहे हैं, जो लड़खड़ा रहे हैं, ठोकर पर ठोकर खाकर गढ़े में गिरे जा रहे हैं, जिन्हें अपने आगे का सब अँधेरा ही अँधेरा नजर आ रहा है—ये दीपक उन्हीं के लिये हैं; इनका प्रकाश उन्हीं के लिये है। इनके समूहित आलोक में वे अपना रास्ता पा सकते हैं; अपने अभिमत स्थान तक पहुँच सकते हैं।

दीपकों का इतना प्रकाश भी कौन अपर्याप्त है ?

ये दीपक क्षुद्र अवश्य हैं; पर तुच्छ नहीं। अग्निजीवी हैं ये। प्रकाश तो इनके जीवन का वह उद्देश्य है; जिसे ये प्राप्त कर चुके हैं। प्रकाश के शत्रुओ, इन दीपकों की अवगणना न कर बैठना कहीं! अपनी क्षुद्रता में ही अग्नि की विराट् शक्ति को समेटे ये चुपचाप जल रहे हैं। थोड़े-से आदेश भर का विलम्ब है, अपनी इसी लघु-सी ज्योतिःशिखा से, सम्पूर्ण विश्वसृष्टि को धधका कर आकाश की कालिमा तक को चाट जायँ ऐसी क्रुद्ध ज्वालाओं को जन्म दे सकते हैं ये! तुम्हारी घासफूस की झोंपड़ियों, तुम्हारी लकड़ियों की इमारतों, अरे, लोहे की छड़ोंवाली ऊँची-ऊँची तुम्हारी अट्टालिकाओं को भी एक ही लपक में अपने पेट में कर डालें; तुम्हारे गाँवों, कस्बों, और शहरों को भी राख करदें—तुमने समझ क्या रखा है इन्हें ?

ये प्रलय के अग्रदूत हैं—अग्रदूत, अगर तुमने इनसे छेड़खानी की तो !

आज ये स्नेह के सन्देश का वहन कर रहे हैं। जल रहे हैं स्वयम्; पर प्रकाश दे रहे हैं अन्धकार से प्रपीडित मानव-सृष्टि को। स्नेह के कदाचित् ये हैं सन्देश-वाक्य:—

"कुसुम पल्लवों-सी सुकोमल, हिम-सी आभामय, लघु-लघु उर्मिशिखरों-सी शुचि दीपशिखे, जीवन का कर्तव्य कठोर है। अपने तक पहुँचने वाले स्नेह-प्रवाह के अन्तिम बिन्दु को भी निर्मम होम करके, तुझे प्रहरी के सदृश जागरूक रहना है, निष्कलुष हास्य की चमत्कृत ज्योति के साथ, इस आकुल जगती के लिये वरदान बन कर !

सावधान ! तेरे अन्तस् की ज्वाला संसार के समक्ष दाह नहीं——आलोक के रूप में व्यक्त हो। तेरी मर्मपीडा, चीत्कार नहीं स्नेहमयी के स्मित के रूप में व्यक्त हो।"

—कदाचित् इसी कारण दीप इतना नीरव है, इतना निःशब्द।

दीपशिखे !

हमारे जीवन के कर्तव्य भी तो उतने ही कठोर हैं न ? स्नेह का प्रवाह हम तक भी आता है। ज्वाला की दग्ध झंझा हमतक भी आती है। फिर हम नीरव क्यों नहीं रह पाते ? हमारे अधरों पर भी वैसी स्निग्ध, निष्कलुष हास्य की तुषारकान्ति क्रीडा क्यों नहीं कर पाती ?

हाँ, जीवन में एक दिन आयेगा अवश्य। उस दिन हम संचित शुष्क काष्ठ के चितापृष्ठ पर पड़े होंगे, श्वेत वस्त्र में लिपटे, शब्दहीन–स्वरहीन ! ज्वाला का गाढ आलिंगन होगा। हमारे मूक अधर भी दीप्त हो उठेंगे किसी विनोद-मिश्र मुस्कराहट से ! पगली दुनियाँ, खड़ी-खड़ी देखा करेगी वह तमाशा––मुँह बाये ! इसी में तो रस है जीवन का। इसी में तो आनन्द है। दुनियाँ रोती रहेगी तब, जब कि हम अग्निशिखाओं में खिलखिला कर हँस रहे होंगे।

तुरुमेल्ला,
आन्ध्र देश,
सन् १९४२ ई०।

तुम्हारा आवाहन

(द्वितीय विश्वयुद्ध की स्मृति में)

कवि, आज तुम्हारा आवाहन
भरमार बरसते गोलों में !

वह स्वर्गंगा, वह नन्दनवन,
वह इन्द्रदेव का राजभवन,
वह देवों-गन्धर्वों का स्वर-
कलकम्प-मुखर उन्मद गायन,
है आविर्भूत धरित्री पर;
तुम देख सकोगे आँखें भर
धू-धू कर लपट उठाते उन
'बम्बार्डमेंट' के शोलों में !
कवि, आज तुम्हारा आवाहन
भरमार बरसते गोलों में !

नभ में घहराती घर्र-घर्र;
धरती पर भरती भर्र-भर्र;
यह युग-वन्दी की प्रथम तान;

धड़ धाँय्-धाँय् धुर धुस्स-धुस्स,
भड़ भाँय्-भाँय् भुर भुस्स-भुस्स,
खट-खट फट-फट का स्वन महान–
यह ही रे, युग का गेय गान !
कवि, आज तुम्हारा नेत्र-नीर
सिमटा है दाहक 'बॉम्ब शेल' की
दहन-शिखा से घायल के
अधफूटे विषम फफोलों में !
कवि, आज तुम्हारा आवाहन
भरमार बरसते गोलों में !

'बॉम्बर' के 'एयर-ऐकशन्स',
वे 'एण्टी–एयरक्रैफ्ट–गन्स',
वे 'टैंक्स' तथा वे शस्त्र-हस्त
'आर्मी' के 'मार्चिग् डिवीज़न्स',
नगरों-ग्रामों को ध्वस्त-ध्वस्त
कर, त्रस्त-स्रस्त, विस्मयग्रस्त
करते मानव का पथ प्रशस्त।

* * *

संक्षुब्ध जलधि का वक्ष चीर,
पैदा कर पानी पर लकीर,
वह धुआँ उगलता किमाकार
जो इधर आ रहा धीर-धीर;

इस मानव का इतिहास छिपा
उस ही 'क्रूज़र' के 'एंजिन' के
जलते पत्थर के कोलों में !
कवि, आज तुम्हारा आवाहन
भरमार बरसते गोलों में !

अब 'बी.बी.सी.' की 'न्यूज़ रील',
'बर्लिन' का उद्भट 'ब्रॉडकास्ट',
करते इस युग की नई सृष्टि ।
आओ कवि, आज इसी युग के
हम रचें नये कुछ प्रणय-गीत;
भूलें उस युग की गाथा सब
जो हत-जर्जर हो गया बीत ।
अपनी अत्युद्धत धम-धम से
कानों की झिल्ली फाड़-फाड़,
बजता है 'मार्शल बैंड' जहाँ,
रह गया कौन रस, कौन राग,
तुम कहो महाकवि, आज वहाँ
उन फटे-पुराने ढोलों में ?
कवि, आज तुम्हारा आवाहन
भरमार बरसते गोलों में !

पुनश्च :--

वह विकट वृत्रहा का आहव,
वह महा अशनि का घनध्वान,
वह सगर सुतों के दिग्जय का
रोदसी-व्याप्त आरव महान,
वे गाधि-पुत्र, वे ऋषि वसिष्ठ,
वह ब्रह्मवर्च का विप्रकर्ष;
वह कार्त्तवीर्य अर्जुन बलिष्ठ,
वह जामदग्न्य का रोष-वर्ष;
अपहृत सीता की क्षीण आह--
लंका का उच्छ्रित दहनकाण्ड;
अबला कृष्णा का अलक-स्पर्श--
वह भग्न-भग्न ब्रह्माण्ड-भाण्ड !
आर्यों के बर्छी-भाले औ,
यवनों की भीषण तलवारें;
'बाबर' की बन्दूकों से क्षत
'सांगा' के लोहू की धारें;
'राणा प्रताप' के 'चेटक' की
टापें 'सलीम' के हाथी पर--
क्या भूल गईं कवि, तुम्हें आज
उस हल्दी-घाटी के अन्दर ?
इस भारत मां के माथे का
अविमार्जित शोणितमय अक्षत--

वह युद्धत्रय का रणक्षेत्र
क्या भूल गये कवि, पानीपत ?
अवनी के जिसने गर्त्त रिक्त
शव-खण्डों से द्रुत डाले भर
कवि 'सत्तावन' का वह कोई
भूलेगा विप्लव प्रलयंकर ?

हैं अगणित आविष्कार हुए,
आये अगणित विज्ञानवाद;
भूला न मनुज को पर अपने
रस, रक्त, मांस का महा स्वाद !
दाँतों से अपने ही मांसल
भुजमूल - क्रव्य को तोड़-तोड़,
करना जिह्वा की तृषाशान्ति
क्या मानव सकता कभी छोड़ ?

कवि, तुमने पुष्पों-पर्णों से,
सुकुमार तितलियों से बढ़ कर,
माना है विश्व-चराचर में
इस मानव को अतिशय सुन्दर ।
तुमने गुलाब की, ऊषा की–
लाली से रञ्जित किये गाल;
उज्ज्वल सुधांशु की आभा से
है किया कान्तिमय दीप्त भाल;

मृगशिशु से हर नव नीरज-सम
दे डाला नयन-द्वन्द्व लोल;
दिखलाई मौक्तिक रद-ज्योति
बिम्बाभ अधर के अरर खोल;
जल-भरे अम्बुदों की छवि ले
कर दिया अलंकृत केशभार;
जब हँसा, कह उठे तुम तब ही—
"झर पड़े मधुर कुसुमित तुषार !"
लो, देखो, वह ही माथे पर
धारे गाढ़ा रुधिर-प्रलेप,
श्रम-शुष्क ओष्ठ को चाट-चाट
जिह्वा से, करता पदक्षेप,
है चला जारहा जंगल में,
घाटी में, दुर्गम शिखरों पर,
नदियों-नालों को, झीलों को,
जाता क्षणार्द्ध में पार उतर;
सिर पर है आयस शिरस्त्राण,
तन में खाकी 'हाफार्म शर्ट
औ' पैंट, पैर में बूट्स (जोकि
ठोकर देने में ऐक्सपर्ट !)
धारण कर यह महनीय वेष
कवि, वह त्वदीय मानव महान,

है छान रहा द्यावापृथिवी
करने मानव का रक्तपान !

* *

कुछ नहीं, सृष्टि के उद्‌गम से
जो बहा आ रहा तन्त्री-स्वर,
कर रहा आज का मानव भी
बस उस ही स्वर को मर्म-मुखर ।
"मानव मानव का प्रभव आद्य,
मानव मानव का प्रलय अन्त"
क्या इसी शाश्वतिक ध्वनि से अब
गूँजेंगे भव के दश दिगन्त ?

हलीखेड,
८. २.'४४ ई० ।

आ गये पैंतीस

आ गये पैंतीस सजनी,
आज मेरे पास रुपये
आ गये पैंतीस !

क्यों अरे, यह चित्त चञ्चल
हो रहा यों हर्ष-विह्वल;
क्या इसी विधि नाच उठता
नृत्य-लुब्ध मयूरिणी के
कान्त-सा अन्त:करण
इस विश्व - भर का,
प्राप्त कर मासान्त में निज 'फ़ीस' ?
सजनी, आ गये पैंतीस !

आज है महँगा जमाना;
जानती हो है बड़ा मुश्किल सखी,
पाना यहाँ
दो वक्त का भरपेट खाना;
एक तो मिलता न दाना,
दूसरे आता नहीं मुझको
प्रिये, खुद का पकाना;

इसलिये पड़ता मुझे
हे प्रणयसहचरि,
होटलों में विवश जाना;
ज्ञात क्या, है 'चार्ज' कितना ?
इस महीने की
निकम्मी से निकम्मी थालियाँ भी
मांगती हैं कर पसार-पसार मुझसे
आज रुपये
एकदम बस
आठ कम इकतीस !
सजनी, आगये पैंतीस !

इस अकिञ्चन के हृदय की राज्य-रानी,
दूर पर बैठे हुए भी
कल्पना के नेत्र मेरे
देखते हैं
आँख की उन सीपियों में
छलछलाता, चमकता,
कुछ पिघल उठती चाँदनी-सा
भर रहा निःशब्द पानी ।
कम समझती हो अरे, सचमुच इन्हें तुम ?

हाय पगली,
बीस पर पन्द्रह अधिक हैं;
क्या हुआ
यदि रह गये
कुछ पाँच कम चालीस !
सजनी, आगये पैंतीस !

आगये पैंतीस सजनी,
आज मेरे पास रुपये
आगये पैंतीस !

हैदराबाद दक्षिण,
२७.३.'४४ ई० ।

मैं गाऊँ

मैं गाऊँ; तुम गाओ !

बन कर मधुमय कण्ठ
विश्व के विवृत व्योम में छाओ !
मैं गाऊँ; तुम गाओ !

एक हमारा स्वर-बन्धन हो,
एक हमारा राग;
एक हमारे हृत्कम्पन में
जागें शत अनुराग !

तुम चिर-स्नेहमयी; अग-जग में
अचल ऐक्य की प्रभापूर्ण, शुचि,
अकलुष रश्मि जगाओ !
मैं गाऊँ; तुम गाओ !

बना रहे आह्लाद हमारा
हृदय-हृदय का गान;
बने रहें उत्फुल्ल नेत्र ये
युग-युग को वरदान;
बना रहे यह हम दोनों का
मधु नवयौवन प्राण,

जर्जर, जीर्ण सृष्टि की काया
का अभिनव निर्माण !
बन आऊँ मैं शीर्ण शिशिर की
झञ्झा का-सा,
तुम वसन्त की मलयपवन-सी
गन्ध-भरी बन आओ !
मैं गाऊँ; तुम गाओ !

हैदराबाद दक्षिण,
२७.३.'४४ ई० ।

व्यथा-विषाद लिये

कुछ आतुर व्यथा-विषाद लिये,
कुछ चीत्कृत अन्तर्नाद लिये,
मैं जाने क्यों, इन राहों पर
यों भूला-भूला फिरता हूँ ?

नचते अतीत से चल-चञ्चल,
बन वर्तमान का द्रव दृग-जल,
अपने अन्तर की लहरों पर
मैं झूला-झूला फिरता हूँ !

मधुपों में जहाँ निनाद नहीं,
कल कुसुमों में आह्लाद नहीं,
उस उजड़ी बगिया को लेकर
मैं फूला-फूला फिरता हूँ—
मैं फूला-फूला फिरता हूँ !

हैदराबाद दक्षिण,
६. ४.'४४ ई० ।

अन्तर में विषाद

क्यों मेरे अन्तर में विषाद ?
मैं समझ न पाया अब तक भी
क्यों मेरे अन्तर में विषाद ?
मैं देखा करता संसृति को,
मैं सोचा करता इस मन में—
औरों के उपवन-उपवन में
क्यों गुञ्जित कोमल, मधु निनाद ?
क्यों मेरे अन्तर में विषाद ?

*　　*　　*

यह मुग्ध वेदना रही जाग—
मेरे इन आकुल प्राणों में,
यह मुग्ध वेदना रही जाग—
मैं गाता; भर उठता उन्मद
अग-जग में जीवन, नवयौवन;
मुझमें ही फिर मेरे गायन
मैं जान न पाया सखि, क्यों यों
भर देते हाहा-पूर्ण राग ?
यह मुग्ध वेदना रही-जाग !

* * *

मेरे उर का उल्लास-हास !
आमोद-भरे जगतीतल को
सन्देश दे रहा मधु-ऋतु का
मेरे उर का उल्लास-हास !

विकसित होंगे नव कुसुम-वृन्त,
होगा नव सौरभ का प्रसार;
बह आयेगा मृदु गन्धवाह
करता वितीर्ण सन्तप्त विश्व-
के उर को शिशिर तुषार-हार;
बन कर मेरे हित असह भार
जाने क्यों प्रणयिनि, क्षण ही में
कर देगा मेरे मानस को
बोझल, श्लथ-विश्लथ, जड, उदास ?
मेरे उर का उल्लास-हास !

हैदराबाद दक्षिण,
६.५.'४४, ई० ।

जी के दुखड़े

पगले, अपने जी के दुखड़े
लेकर क्यों आया ?
सच बतला, क्या कभी किसीको
तेरा व्यर्थ हसन-रोदन यह
तृण-भर भी भाया ?

तूने करुणा की आकांक्षा लिये हृदय में,
अर्द्ध-सजल-दृग, दीन-वदन हो, ऋद्ध सृष्टि के
सम्मुख अपना कम्पित कर फैलाया;
इससे बढ़ कर
आर्त हृदय का,
शुष्क कण्ठ का,
जर्जर स्वर का,
अति उत्कट
क्षुत्क्षाम उदर का
व्याकुल गाना गाया;

सत्य बता, यह श्रम-विक्रम सब
तेरा पगले,
कौन महाफल लाया ?

तीव्र उपेक्षा-भरा,
विकट, कटु, विरस हास्य कर,
निर्घृण जग ने अरे, अन्ततः,
तुझ दुर्बल को यथानियम
निज निर्मल चरणत्राणों से
ठुकराया !

हाय, विषम अवमान-भार यह
करने को निःशब्द वहन
क्या पाई थी नर-काया ?
दृढ़ हो, भुला भग्न अन्तर का
अहे अमृत-सुत, वन्ध्य, अशुभ रव;
बढ़ धृतिपूर्वक क्षमताओं के
दिव्य अध्व पर;
पा अधिकृत फल,
जिसको अपने वीर्य-पुण्य से
अभय विश्व के वर पुत्रों ने पाया !

पगले, अपने जी के दुखड़े
लेकर क्यों आया ?
सच बतला, क्या कभी किसी को
तेरा व्यर्थ हसन-रोदन यह
तण-भर भी भाया ?

हैदराबाद दक्षिण,
२७.६.'४४ ई० ।

तुंगभद्रे !

(निर्विद्)

तुंगभद्रे,
तीर पर तेरे
चला आया आज–
परवश-सा,
समाकृष्ट किन्हीं गूढ़ रश्मिबन्धों से !

क्रीड़ा करता हूँ–
मुग्ध
शिशु-सा, अबोध-सा,
भूले आत्मप्रत्यय सब,
एकाकी,
त्वदीयवीचिनिचयार्द्र, सिकतामयी,
रम्य तट-रेखा पर—
सान्ध्य की
क्षणोत्तर-प्रवर्द्धमान
लोहितराग-रेणु-मिश्र,
धूमाकृति, क्षीण तमश्छाया में !

पूछती हो अपने उस कलकल के स्वर में—
तोड़ कर जनपद का,
गेह का,
आजीविका का चिन्ता-तन्तु,
एतादृश मूढ, अधिक्षिप्त मनोऽवस्था का
होकर वशवर्ती,
किस हेतु
इस ठौर चला आया हूँ ?

बतला सकती हो तुम—
तुम भी उस अपनी
उद्भवस्थली को छोड़,
इस भाँति यहाँ तक
क्यों बही चली आयी हो ?

जीवन का एकमात्र
धर्म ही प्रवाह है।

उसी एक धर्म के अधीन
बह रही हो तुम;
उसी एक धर्म के अधीन
बह रहा है यह अखिल विसृष्टि-तन्त्र;
उसी एक धर्म के अधीन
बह रहा हूँ मैं;

आ लगा हूँ बहता ही
तुम्हारे धारास्पृष्ट,
चिर-ऐकान्तिककेलिकलापूर्ण उपकण्ठ पर !

जानती हो देवि,
कितनी ही क्षुद्र तोयधाराएँ
स्वीय मूल स्रोतस् से
बहती हैं निकलती–
उत्सुक-सी, अतृप्त-सी, अधीर-सी, आतुर-सी;
उर में एक तीव्रतर भावों का
उभार-सा लिये हुए;
आती हैं तुम्हारे तटप्रान्त के समीप
तथा हो जाती हैं एकाकार तत्क्षण तुम्हारे में ।

कह न सकूँगा,
यह विश्व का विदारक तथ्य है
या अभिनन्दन-योग्य कोई
उत्सव है नेत्रों का ।

तुम भी तो इसी प्रकार
बहती हो, जाती हो उमड़ी
कृष्णवेणी के तट पर ।
हो जाती हो एकाकार
उसी कृष्णवेणी में–
होकर सर्वदा के लिये

नामशेष ।

अन्ततः, मिल जाती हो
जाकर उस
तालीदलमर्मरतोर
प्राची के समुद्र में ।

कोई धारा रीझती है किसी अन्य धारा पर;
धारा वह रीझती है तुम पर;
तुम रीझीं कृष्णवेणी पर;
कृष्णवेणी रीझी धारापति पूर्वपारावार पर ।

जीवन के प्रवाह का यह
कैसा अनुक्रम है देवि ?

कोई मिलनातुर, कातरनेत्र,
मात्र रूपदर्शन के अर्थ कहीं
जाता है किसी के अन्तिक तो
सत्ता को अपनी उसीमें पूर्ण रूप से
करने को समाप्त—अभिधेयावशेष
क्यों विवश बन जाता है . . . ?

मिलन एतादृश
क्या इतना है अपरिहार्य—बहुमूल्य,
जिसके समक्ष जन जावें भूल
अपने जीवन की सत्ता का
स्वतन्त्र मूल्यमापन भी ?

समझा मैं !
सब ही का है एकान्त अधिगन्तव्य पद
अनन्त ऊर्मिमाला का अधिप अम्बुराशि वह।
कितना है महान हरे, व्याप्त वह अम्बुराशि !
तुलना में उसके कितनी–
कितनी क्षुद्राकार हो तुंगभद्रे, तुम ?
किन्तु उस महान के भीतर
अपनी समस्त क्षुद्र वृत्तियों को
करके एकाकार तुम
स्वयमेव कितनी महान बन जाती हो,
ज्ञान इसका है तुम्हें ?

जीवन का कदाचित् यही
अंकितक्रमणपूर्व,
नियत पर्यवसान है।

तुंगभद्रे,
जीवन की मेरे भी
क्षुद्रतर धारा यह
अपनी समस्त क्षुद्रताओं–दुर्बलताओं–परवशताओं को
साथ लिये,
तट तक तुम्हारे
आज खिँची चली आई है !
अपनी उस नृत्यमयी,

गीतमयी धारा के भीतर
क्या लोगी कर देवि, उसे एकाकार ?
अथवा मुझे भी
ठीक तुम जैसे ही
जीवन के अध्वमध्य,
आकर पहुँचनेवाली अपने समीप तक
अनेक अल्पधाराओं को
लेते हुए अपने साथ,
आगे और आगे हन्त,
बहते चले जाना होगा–अनलस–अविश्रान्त;
तब तक,
होता नहीं जब तक
कर्णगत
प्रत्युद्गमनमन्त्र
मेरी जीवन की धारा के अर्थ,
किसी विराट्, दिग्वलयविस्तीर्ण
अर्णव की
मुखर, मुदित, प्रथम तरंगपंक्ति का ?

टूट कभी जावेंगे ये क्षुद्र जड़ बन्धन मेरे ?
क्षुद्र-सी ये सीमाएँ क्या
पावेंगी समाप्ति कभी जीवन की
असीम में ?

होगी एकाकार कभी
सचमुच देवि तुंगभद्रे,
लघुता यह मेरी
उस 'महान' की महत्ता में ?
भ्रान्त, अध्वपरिभ्रष्ट, विह्वल-सा
प्रवाह यह
कभी खोज पावेगा क्या
तुम ही बताओ,
उस अचल मूल धारा को ?
हाय, बड़ा इतना अदृष्ट,
इतना गौरव उदग्र,
भला,
मुझ जैसे हीन तथा अधम मनुवंशज की
ललाटफलकलिखित इन
दीन, दग्ध रेखाओं में . . . ?

तुंगभद्रे,
तीर पर तेरे
चला आया आज–
परवश-सा,
समाकृष्ट किन्हीं गूढ़ रश्मिबन्धों से !

हैदराबाद दक्षिण,
१२.१०'४५ ई०।

प्रत्यक्ष उत्तर

छूटा स्कूल;
आया घर।
बैठी थी गृहिणी भी
मेरी ही प्रतीक्षा में–
घर के दरवाजे पर।

देखते ही मुझको
वह मौन मुसका उठी;
आँखों ही आँखों एक
स्वागत-गीत गा उठी।
सूने-से घर के कोनों में मानों तब
रजनीगन्धा की मीठी महक-सी छा उठी!
स्कूल की थकावट सारी
पंछी का लगा के पर,
उड़ गई एक ही पल के भीतर–
ऊपर दूर-दूर-दूर,
दूर-नभोमण्डल में,
फर-फर, भर-भर!

"कैसा रहा आज का दिवस यह?"
"तुम ही कहो"

"मैं ही कहूँ ?—
अच्छा, चलो, पीछे से कहूँगी सब;
कपड़े उतारो
और धोलो पैर झटपट।"

लोटा मुरादाबादी
पानी से भरा हुआ
प्रस्तुत था।
धोये पैर;
धोये हाथ;
धोया मुँह;
पास ही ताजे शुद्ध पानी का घड़ा था रखा;
लुढ़का कर पानी लिया लोटे में।

ताड़ के पत्तों का आसन था बिछा हुआ !
सामने थी गृहिणी के हाथों से परोसी हुई
थाली;
जोहती थी मानों वह भी
आतुर हो बाट मेरी !
गरम-गरम भात और
छुँकी हुई, स्वादिष्ठ वह चटनी चनों की
एवं नया-नया,
महकदार, कड़कड़ाता मक्खन का ताज़ा घी—
फिर भला, कमी किस बात की ?

वाह-वाह बोल उठती थी जिह्वा तब,
कर डालता था कौर एक-एक मुँह में जब !

"नमक तो ठीक है न ?" पूछा गृहस्वामिनी ने
"मिरचें तो नहीं न, कहीं भूल से पड़ी हैं अधिक ?"
उत्तर क्या देता इस
मीठे और भोले तथा पत्नी-सुलभ प्रश्न का ?
शीघ्र ही बनाया तब मैंने भी कौर एक
घी से भरे भात और चटनी का चुपके से;
देख कर गृहिणी को असावधान,
झपट कर
बोलने के हेतु कुछ खुला उसका मुँह
रुचिपूर्ण बड़े भारी ग्रास ही से डाला भर
और कहा—"लो, तुम्हारे प्रश्न का तो
यही है प्रत्यक्ष उत्तर ।"

हास-हास खिल उठा;
तार-तार मिल उठा;
नेत्रों के प्रहृष्ट रश्मिपुञ्ज के प्रकाश में,
भारत की दीन दम्पती की कुटिया में ही
अमरपुरी का मञ्जु जाग उठा गीत-स्वर ।
छूटा स्कूल;
आया घर ।

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
२६. १.'४६ ई० ।

विधि !

हाय, कितनों से हुआ था
इस हृदय की कमल-कोमल रश्मियों का ग्रन्थि-बन्धन !
किन्तु आकर कण्ठ में
लिपटी लता-सी दे रही यह कौन आलिंगन ?
विधि, तुम्हारा यह विलक्षण नय-निबन्धन;
फेरते हो अन्त में निज मृदुल कर
कर प्रथमतः टुकड़
समूहित काचसञ्चय-से मनुज के
अत्यधिक पेशल हृदय पर,
यन्त्रताडित-सा चलाकर
वज्रनिर्मम, लौह गुरुघन !
वल्लरी के मूल ही का हो चुका हो जब निकृन्तन,
किसलिये फिर शीत-शीतल, मधु-मधुर यह वारि-सिञ्चन ?
कर चुके हो आज तक तुम मृत्तिका में मिश्र,
करके भस्म वे
जाने न, कितने नव्य तरु-से प्रयत जीवन !
और कब तक इस तरह
चलता रहेगा यह विडम्बन ?
और कब तक प्रिय तुम्हें लगता रहेगा
आर्त, प्रणयी प्राणियों का मुक्त आक्रन्दन ?

क्यों निरागस प्रणय से यह द्रोह ?
क्यों तथा निष्काम उस कर्तव्य-पथ से मोह ?
क्या नहीं सम्भव जगत् में,
सत्य ही,
इस प्रणय औ' कर्तव्य का एकत्र आराधन ?

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
३०. १.'४६ ई०।

सुख यही !

जीवन में सुख यही–
जीवन में सुख यही !
छोड़ इसे आशा प्राणों के किस अरण्य में रही ?
जीवन में सुख यही !

मैं निराश, हतचित्त, विश्व में विकल भटकता रहा;
उलझ-उलझ गिरिनदी-सदृश सिर सदा पटकता रहा;
भूमि छोड़, उड़ चला गगन में;
पर त्रिशंकु-सा अधर लटकता रहा;
मिल सका न मुझको स्वर्ग इन्द्र का अहे, आज भी–
तुम समझो इसको भले, ग़लत या सही !
जीवन में सुख यही !

एक दिवस मैं जीवन की निज व्यर्थ चिन्तना–
के ढिगार में गड़ा,
हो उदास, निष्क्रिय, निरीह-सा,
म्लानवदन था खड़ा ।
इतने में,
उद्यान-मध्य, कुसुमाभिराममलतिकासमूह-सा
छात्राओं का एक वृन्द आ,
'नमस्कार सर', 'नमस्कार सर' कहता मुझसे

त्वरित लिपट-सा पड़ा;
लद गया मुझीपर बृहत्काय, नव पुष्पहार-सा तभी–
आम्रवृक्ष की डालों-सी द्रुत डाल मधुर गलबही ।
मेरा मन तत्क्षण चीख उठा भावातिरेक से–
"जीवन में सुख यही !"
जीवन में सुख यही !

"निरानन्द, निःस्नेह, निष्प्रणय, रहा आजतक प्राणी
कोई विश्वसृष्टि में सदा ?
मधु के इस विस्तीर्ण राज्य के भीतर,
मधु का
एक क्षुद्र-सा कण भी जिसके
न हो भाग्य में बदा ?
—विषम, विशाल, मरुस्थल में भी
रहती है चिर-हरित, शीत, शुचि
शाद्वल की वह अमर-अजर सम्पदा !"
हो उठता यत्सत्य, व्यर्थ ही मैं विस्वर-सा कभी
बिसरा कर बहुमूल्य प्रिये, यह उक्ति तुम्हारी कही ।
जीवन में सुख यही–
जीवन में सुख यही !

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
१५. २.'४६. ई० ।

कोमल आग्रह

ऊपर,
नभ के शान्त लोक में,
खिली हुई थी
पूनों की चाँदनी;
रजनीगन्धा के
मन्दहास से
सुरभि-अन्ध-सी
वसुन्धरा थी बनी।

मैं विस्मृत-सा,
ध्येयशून्य-सा
दक्षिण कर में
एक काव्य का
ग्रन्थ लिये था खड़ा;
सहसा पीछे से
स्कन्ध-देश पर
मृदुल पाणि का
हुआ स्पर्श
औ' बाल विहग के
कल कूजित-सा

मुग्ध कण्ठ से
'नमस्कार' पद
सपदि सुनाई पड़ा !
"सरस्वती, तुम ?"
"नहीं, 'वसन्ता'--
भूल गये क्या नाम हमारा
अल्प काल में ?
निठुर आप हैं बड़े;
चलिये, भीतर
चेयर पर बैठिये,
यहाँ इस फूटपाथ पर
कब तक यों ही
आप रहेंगे खड़े ?"

कहते-कहते
पुस्तक मेरी
छीन,
हाथ यह
चुपके-से
उस फूलों के गजरे से शोभित,
वेणी के नीचे से लेकर
डाल गले में लिया
तथा हथेली पर उसके
निज कुसुमरेणुमण्डित

कपोल-तल
टेक शीघ्र ही दिया !

"पगली,
अब तो हुई रात;
अब घर पर मुझको
कहाँ बुला ले चलीं ?
आऊँगा फिर कभी;
छोड़ दो;
जाने दो अब;
देखो, तुम तो
हो न बड़ी ही भली ?"

"ऊँहूँ, कुछ क्षण
और ठहरिये"
कह कर अपने
बाहुपाश में
कस-सा डाला हरे !
कन्धे पर धर दिये अलक वे
श्याम, मनोहर,
मृदु-सौरभ से भरे !

टूट सकेंगे
रज्जुबन्ध,

आलान, लौह-शृंखला;
किन्तु तरुण बाला के कोमल
आग्रह का अनुबन्ध-तन्तु यह
टूट सकेगा भला ?

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
१६. २.'४६ ई० ।

नारी

मांसमात्र क्या रूप तुम्हारा नारी ? चर्ममात्र क्या मोल ?
प्राण-शून्य जड़ यन्त्रमात्र ही क्या वे शिशुविहंग-से बोल ?

तुम जननी, तुम स्वसा, विश्व की धात्री, तुम्हीं सहचरी प्राण;
तुम्हीं विश्व का सौख्य, विश्व के आकुल जनसमूह का त्राण;
तब क्यों इतना दीन, परभुजापेक्षी देवि, तुम्हारा मर्म ?
क्यों अजस्र, असहाय अश्रुमोक्षण ही जीवन का इतिकर्म ?

तुम अभाव की पूर्ति सृष्टि में रमणी, तुम्हीं भाव से रिक्त ?
तुम आभा की मूर्ति; तुम्हारा आँगन—आर्द्र ओस से सिक्त !
तुम उदास नर के अधरों पर क्रीडित ज्योत्स्ना-मधु स्मितहास ;
किन्तु तुम्हारे पीडित वक्षःस्थल में दीर्घ, शुष्क उच्छ्वास ।

तुम सुन्दर, तुम मृदुल, तुम्हारा अनुपम बाहुलता-परिरम्भ ।
तुम्हीं शान्ति; विश्रान्ति, तुम्हीं चिर-उज्ज्वल, नवल कान्तिका स्तम्भ ।
रूप-रूप है मधुर तुम्हारा, गतिमय स्वर-स्वर है संगीत,
पद-पद है नव नृत्य तथा कण-कण ही रसवर्षण शुचि-शीत !

क्षणप्रभा-सी चपल, शिशिर-सी शीतल, अमृतमेघ की वृष्टि,
अमर रहेगी देवि, तुम्हारी जग में चकित मृगी-सी दृष्टि !
अरुणशक्ति के दीप्तिकेन्द्र-से मांसल वे सुकुमार कपोल,
मोह-मन्त्र के पंक्तिजाल-सा संस्कृत अलकभार वह लोल,

अमर रहेगा; अमर रेशमी साड़ी का आँचल अभिराम;
आकर्षण का परम धाम वह मोहन अमर तुम्हारा नाम !

शिशु के संष्ठुल गात्रबन्ध का आश्रय पुण्य स्तन्य-आधार
अक्षय धन है या परवश बन्धन है वह उरोज का भार ?

पुरुष-दास्य की तप्त लौहमुद्रा-सा वह कुंकुम का अंक,
नहीं सुहाता चन्द्र-धवल मस्तक पर—अति अपवित्र कलंक !
वह सुहाग-सिन्दूर मांग में, कर में काचविनिर्मित वलय,
है दारुण अपमान तुम्हारा ललने, अति लज्जा का विषय !
ये सुहाग के चिन्ह दिलाते उस क्षण का अति अप्रिय स्मरण,
जिस क्षण तुमने प्रथम किया था परवश पुरुषदास्य का वरण।

तुम स्वतन्त्र, समकक्ष, सबल; तुम नर के कूटयन्त्र का ध्वंस
करो-करो हे चिरकल्याणी, पहरो क्षमता का अवतंस !
पुरुष बिना तुम शून्य; सत्य है; वह भी शून्य तुम्हारे बिना;
तब तुम्हीं पुरुष के हाथ स्वत्व अपने कैसे बैठीं छिना ?

तुम संयम का, त्यागवृत्ति का घर में करो निरन्तर जाप,
और उधर नर पत्नीव्रत का निर्मम करे स्वैर अपलाप !
कैसी भीषण, विषम वञ्चना सचमुच देवि, तुम्हारे साथ;
सहन नहीं हो सकता अब भी यदि तुम कहो पुरुष को 'नाथ' !

वातहीन, आलोकहीन, अवगुण्ठन की कारा में बन्द—
जीवन में आभरण-रणन क्या वास्तव भर सकता आनन्द ?
तोड़ो गृहकवाट की कड़ियाँ, करदो बन्धन के शतखण्ड।
भस्म-भस्म कर डालो सत्वर-सत्वर वह प्राक्तन पाखण्ड !

अब तक कितना सहा और तुम कबतक किये चलोगी सहन ?
कर डालो अब पुरुषवर्ग के सारे अनाचार का दहन ।
पुरुष-जाति के रुधिर-मांस में बहता शासकत्व का गर्व;
भीतिरहित व्यवहार तुम्हारा कर दे नष्ट-भ्रष्ट वह सर्व ।
फिर समत्व के औ' सखित्व के स्तर पर हो जीवन-सम्बन्ध;
एक दूसरे के अन्तर्भावों की पूजा हो अविबन्ध ।

कब तक पातिव्रत्यधर्म का नारी, लगा रहेगा शाप ?
कब तक उस वैधव्यभाव का दुर्धर वहन करोगी ताप ?
आज मिटा डालो इस अवनीतल से वह सतीत्व का घोष;
वह सतीत्व कैसा जिससे हो जावे रस ही का उच्छोष ?

जहाँ सत्य अनुराग-बन्ध है उस ही ठौर रहे कर्तव्य;
सत्त्वहीन कर्तव्य-मार्ग से बढ़ कर रसनिष्ठा है भव्य;
जीवन रस की अमर साधना, रस ही जीवन का उद्दिष्ट;
रसविहीन जीवन स्रष्टा के उर को कभी न होगा इष्ट ।

रस ही का प्रतिबिम्ब एक तुम, तुम ही रस का पारावार;
उठो मधुमयी, करो विश्व में फिर से नव रस का सञ्चार !

आज विश्व-शिशु बिलख रहा है कातर—दोनों भुजा पसार;
अम्ब, शान्त कर सकतीं तुम ही दे निज हृदयरक्त की धार !
सूख चला है विश्वपलाशी होकर पत्र-पुष्प से हीन;
तुम्हीं डाल सकती हो जीवन उसमें जननी, पुनर्नवीन !
आज विश्व है शवस्थान-सा जिस पर जमा गीध औ' श्वान;
कर सकती हो इसे तुम्हीं अमरों का वह नन्दन-उद्यान !

ध्वंस-सृष्टि का क्रम पुराण; अब जिसमें ध्वंस हो चला पूर्ण;
सृष्टिचक्र को सँभालने की बारी आती तुम पर तूर्ण !

लिये पताका बढ़ी चलो, तुम आगे
नवनिर्मिति की ओर;
शान्त अब्धि में उठे एक फिर भव के
अभिनव हर्ष-हिलोर !

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
२०. २.'४६ ई० ।

पथिक चल पड़ा

बिलखता चला
या बिहँसता चला कौन जाने,
पथिक चल पड़ा तोड़ बन्धन
भुवन के।

जिधर सूर्य की रश्मियाँ हँस उठीं जगमगातीं,
जिधर उड़ चली धूल आकाश-पथ के
अमित मुक्त-मधु गान गाती,
उधर ही अचल लक्ष्यपद का
निभृत, सत्य संकेत पाने—
बिलखता चला
या बिहँसता चला कौन जाने,
पथिक चल पड़ा तोड़ बन्धन
भुवन के।

कभी नील नभ का बना
स्वर-मुखर, मुग्ध पंछी;
कभी स्निग्ध कल्लोलिनी का बना
हास-क्रीड़ा-रुचिर नृत्य-निःस्वन;
कभी खिलखिलाते कुसुम-कुड्मलों का बना
आर्द्र उच्छ्वास-सा गन्धपरिमल;

जिधर उड़ चले वे विहग चहचहाने,
जिधर बह चली मग्न सरिता अमर गीत गाने,
जिधर झर चले वे विजन के कुसुम मुस्कराने,
उधर ही अचल लक्ष्य-पद का
निभृत, सत्य संकेत पाने--

बिलखता चला
या बिहँसता चला कौन जाने,
पथिक चल पड़ा तोड़ बन्धन
भुवन के।

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
७. ३.'४६ ई०।

तुम मांग रही हो...

तुम मांग रही हो युग-युग से
कुसुमाभ, अभ्ररुचिपिञ्जर उस
घननीलव्योम की कनकमयी
ऊषा का आरुण परिधान प्रिये !

स्पन्दित अजस्र,
क्रीडित अजस्र,
तुहिनाद्रिशिखर से विनिःस्वनित,
उन्मद गिरिधारानिर्झर-सम--
तुम मांग रही हो युग-युग से
झर-झर कर बहते धवल-धवल,
नव रजतरश्मियों-से सस्मित,
घन कुन्तल रोचिष्मान प्रिये !

उस दूर लोक के कम्प्र कण्ठ से
उत्स्फूर्जित,
वसुधा के मृदु-मसृण, चित्रमय,
शष्पाञ्चित, चिर-हरित पृष्ठ पर
उद्वेलित, अचिरांशुलता के पंक्तिभार-सा
धारायित,

तुम मांग रही हो युग-युग से
रवि के प्राभातिक, श्राभास्वर,
हासाश्रुपूर्ण, चञ्चल-चञ्चल
उन गीले रागों से रवमय
श्राभा की ऊर्मिल तटिनी का
चिर-गद्‌गद, ज्योतिर्गान प्रिये !

सन्ध्या की धूमिल वेला के
औदास्य-भाव के हरने को
अवतीर्ण गगन के आँगन में
हर्षित,
आनन्दित,
उत्क्रन्दित,
नव-नव क्रीड़ाओं में निमग्न,

तुम मांग रही हो युग-युग से
मृगशावों-सम अकलुष, रसनिर्भर,
चकित-चपल उत्प्रेक्षणयुत उन
तारकशिशुओं के नीर-भरे
नेत्रों की वह मुस्कान प्रिये !

तुमने रस ही की कांक्षा से
था किया प्रकृति के एक-एक
कण का उत्सुक आह्वान प्रिये !

युग आये, युग वे बीत गये; पर
कर न सकीं तुम पूर्ण आज तक
उर के अपने अरमान प्रिये !
जब विश्व-सृष्टि का कण-कण यह
नाचा, गाया, मधु मुस्काया,
तुम चिर-अतृप्त की चिर-अतृप्त
ही रहीं लिये तब वे उदास,
नीरस, जड सान्ध्य-विहान प्रिये !

अरी भ्रान्त, तुम किधर भ्रमाकुल
चली जा रहीं अन्धकार में ?
ऊषा का परिधान, निर्झरों के कल कुन्तल,
तथा ज्योति का गान और मुस्कान सभी
हैं क्षीण-क्षुद्र प्रतिबिम्ब तुम्हारे
अन्तर की उज्ज्वल आभा के;
तुम्हीं मधुर, रुचि तुम्हीं, शुचि तुम्हीं,
तुम्हीं गीत गतिमान प्रिये !
देखो, निज अन्तर्दर्पण में---
हो तुम्हीं विश्वजन-आराधित,
आकांक्षित अमृतनिधान प्रिये !

इन्दु-लतामन्दिर,
हैदराबाद दक्षिण,
८. ३.'४६ ई० ।

किसके आगे ?

(स्वगत गान)

हम किसके आगे अपना हाथ पसारें ?

कंगाली भिखमंगा बनने को कहती;
पर कुलीनता, अहम्मन्यता
कसकर कर दोनों थामे रहती;
दुश्चिन्ताएँ लद जातीं दीन हृदय पर;
यह भार हृदय का दुर्बल हम
किस भाँति सखी, अपने इन
दुर्बल कन्धों पर धारें ?
हम किसके आगे अपना हाथ पसारें ?

पुणें,
१७. ५.'४६ ई०।

भूल जाऊँ ?

[वासन्ती गाती है ।]

वासन्ती : भूल जाऊँ वह पुराना गीत,
है गुँथा जिसके स्वरों में
मधुर यौवन का
रुपहरा-सुनहरा संगीत ?
लहलहाती खेतियों से—क्यारियों से,
मुस्कराती फूल-सी उन
मस्त कृषक-कुमारियों से
खिलखिला खिलवाड़ करती
मद-भरी वह प्रीत
डालती थी प्राण जिसमें,
भूल जाऊँ क्या भला, मैं
वह रसीली रीत ?
भूल जाऊँ वह पुराना गीत ?

[कवि का प्रवेश]

कवि : क्यों भला, क्यों भूल जाओ
वह पुराना गीत ?
क्यों भला, रुक जाय वह
जीवन-भरा संगीत ?

कौन कहता है,
हमारी सरस, नवयौवन-भरी
मधु-ऋतु गई वह बीत ?

वासन्ती : भूल जाऊँ वह पुराना गीत ?

[दोनों खिलखिला कर हँस पड़ते हैं ।]

पुणें,
१७. ५. '४६ ई० ।

गाता जा !

तू गुन-गुन गाता जा !
गाता जा रे,--अपना दिल बहलाता जा !

उमड़-घुमड़कर घनी घटायें
अन्तरिक्ष में छायें,
संगृहीत कर व्यथा विश्व की अन्तस्तल में,
अश्रु-नीर बन आयें;
बना उसीकी एक धार तू
ताप-तप्त इस दीन धरित्री को
नहलाता जा !
गाता जा रे,--अपना दिल बहलाता जा !

अन्धकार–घन अन्धकार
करता हो सूने कोनों में जब जगके
भीषण भय-प्रसार,
हो जाय उषा की मुसकाती
किरणों का जब अवरुद्ध द्वार,
तब इसी विमोहन स्वर-वीणा से
जीवहीन, जड मानव में नव–
नव प्रकाशमय जीवन लाता जा !

गाता जा रे,——अपना दिल बहलाता जा !

तू भूल न जाना राग !
भूल न जाना
गीत-सृष्टि के मधु-वैभव का
अपना शाश्वत भाग !
इसी राग की पंक्ति-पंक्ति में,
भरा हुआ है तेरे उर का
उत्पीड़ित अनुराग !
अपना यह अनुराग-दीप तू
मानवता की अन्धकुटी के
विजन कोण में,
सतत जलाता जा !
गाता जा रे,——अपना दिल बहलाता जा !

एडार्ट्स् लिमिटेड,
मुंबई,
१२. १०.'४६ ई० ।

उड़ चल !

उड़, उड़ चल, उड़ते पंछी,
मिल जा, गगन की नीली–
नीली घनी लहरों में !

सुनसान जग का कोना
संगीत-भरा हो जाये–
नन्हे-से, मीठे-से तेरे सुर से !
उजड़े बगीचों में भी
रागिनी उमंग-भरी वह
छा जाय महक-सी बनकर–
निकली कसकते-से कुछ
तेरे सिसकते उर से !

तू डाल बदल दुनियाँ की
अँधियारी घड़ियों को भी
चम-चम चमकते, जगमग–
जगमग जगे पहरों में !

तू दीख न पाये, तेरे
सुख और दुःख के साथी
वे पंख दीख ना पायें !

उतरें धरा पर केवल
सावन के आँसू-जैसी
तेरे हृदय की पिघली
पीड़ा की मणिमालायें !

तेरे नयन का पानी
झरनों में बहता दीखे,
करता हरी वसुधा को
दीखे नदी-नहरों में !

उड़, उड़ चल, उड़ते पंछी,
मिल जा, गगन की नीली–
नीली घनी लहरों में !

एडार्ट्स् लिमिटेड,
मुंबई,
१७. १०.'४६ ई०

रहूँ दूर

रहूँ दूर।
सजनि, रहे जीवन यह
आहों से भरपूर।

वृत्तियाँ हों मानस की
रस-अभिलाष-भरी
पूर्णतया चूर-चूर।
रहूँ दूर।

रहूँ तड़फड़ाता यहाँ,
रहूँ फड़फड़ाता यहाँ,
बना रहूँ यहीं,
यहीं पै अयि प्राणप्रिये,
खींच न लाये मुझे
निकट तुम्हारे कभी,
तुम्हारे नेत्र-सम्पुटों का भी
परवश वह अश्रुपूर !
रहूँ दूर।

तुषाराहत प्राभातिक–
कुसुमकलिका-सा वह
म्लान मुख भी तुम्हारा सखी,
ताडित शत चिन्ताओं से
देख न पाऊँ–
होकर भी उस हो के
चिन्तन में मग्न रात्रंदिवस;
कहता फिरे विश्व यह
भले ही मुझ अभागे जन को
हीनहृदय, कठिन-क्रूर !
रहूँ दूर।

मुंबई,
६. १.'४७ ई०।

अब मिलन कब ?

अब मिलन कब ?

तुम वहाँ बैठीं
गगन की शून्य-सी
घन नीलिमा में,
नेत्र डाले;
मैं यहाँ,
चल-जलधि के तट पर,
हृदय के व्यग्र पारावार में,
तूफान पाले;
प्रश्न तुमको भी
मुझे भी
एक-सा झकझोरता है–
'अब मिलन कब ?'
अब मिलन कब ?

देखता हूँ,
सान्ध्य-रवि
पश्चिम क्षितिज का
स्निग्धतम आतिथ्य पाने जा रहा है;

देखता हूँ,
ऊर्मियों का व्यूह उन्मद
सैकतिल तट के निकट
आतुर मिलन को आ रहा है;
देखता हूँ,
शान्त नीलाकाश में,
आवास-अभिमुख
प्रजवधावित खग-गणों को–
स्मरण कर उठता
हृदयसहचरि, हठात् व्यतीत अपने
मिलन के
उन मधु क्षणों को !

देखती होगी न, तुम भी तो प्रिये,
यह प्रकृति का सम्मिलन-मेला;
पूछती होगी न, तुमसे भी कभी
आकर सहेली सान्ध्यवेला–
"अब मिलन कब ?"
अब मिलन कब ?

विश्व के जड बन्धनों का क्रोध
कर सकेगा क्या उपस्थित
इस हृदय के उस हृदय से
मिलन में अवरोध ?

तुम अनिल की सूक्ष्म धारा बन
यहीं पर आ रही हो;
बन सुशीत तुषार
मेरे देह के उद्रोम कण-कण-मध्य
छाती जा रही हो;
सान्ध्य का बहुरंग अम्बर
है लिये उन ही कपोलों
की शुचिस्मित, मुक्त आभा;
चित्र-पिञ्जर रवि-करों की ओट में
प्रणयिनि, तुम्हीं तो
मुग्ध-सी मुसका रही हो ?

आज मेरे हेतु 'त्वन्मय' हो रहा यह
निखिल चक्र निसर्ग का सखि,
कर सकोगी दूर बैठीं तुम
चराचर अखिल 'मन्मय' ?
कण-कणों में, क्षण-क्षणों में,
मिलन ही होगा मिलन तब !
अब मिलन कब ?

चौपाटी,
मुंबई,
७. १.'४७ ई०।

सायन्तन . . .

टन्...टन्...
ढन्...ढन्...
पूँ...ऊँ...ऊँ...ऊँ...
भूँ...भूँ...भूँ...ऊँ...
सायन्तन
अर्चन-
आराधन !
टन् . . . टन् . . .
ढन् . . . ढन् . . .

*

शान्त . . .
एकान्त . . .
अरण्य निर्जन;
छप् . . . छप् . . .
थप् . . . थप् . .
लघु-लघु
ऊर्मियों का
नर्तन . . . उद्वर्तन ।

साँय् . . . साँय्,
शिशिर-मधुर
पवन;
विपिन विनिःस्वन।
सायन्तन
अर्चन-
आराधन !

*

दूर,
श्रान्तिचूर
वन-विहंग;
फरर् . . . फरर्,
भरर् . . . भरर्;
अंग . . . अंग
पुलक-पूर–
पुलक-पूर;
विटप-विटप
अरव, अवाक्य,
अनुत्कम्पन ..
श्रवण-समाधि-मग्न।

मिलन-जनित
अप्रस्फुट
कण्ठ-गीत
भाव-गहन ।
सायन्तन
अर्चन-
आराधन !
टन् . . . टन् . . .
ढन् . . . ढन् . . . ।

चौपाटी,
मुंबई,
१०. १.'४७. ई० ।

हँस अधर, मधुर

हँस अधर, मधुर;
गा गीत करुण पक्ष्म रे,
यही तो
शाश्वत जीवन का
तरुण-अरुण लक्ष्म रे !

क्यों हेमहर्म्य,
क्यों रजत-वास,
उसको,
जो निष्काञ्चन,
निःसौरभ, कंकालभास ?
क्यों कठिन-क्रूर से परित्रास ?
कोमल लतिका-कुसुम
विषमतम शिलाप्रचय पर
भी तो
प्रकटित करता रे, स्निग्ध हास !

हँस अधर, मधुर;
गा गीत करुण पक्ष्म रे,

यही तो

शाश्वत जीवन का

तरुण-अरुण लक्ष्म रे !

मुंबई,

१२. १.'४७ ई०।

२६ जनवरी !

(गद्य)

–१–

२६ जनवरी की
मध्यरात्रि !
आज देश के कोने-कोने में,
जनता स्मरण कर रही होगी––
पूर्ण स्वातन्त्र्य के मन्त्र का,
मन्त्र के उद्घोषकों का,
मन्त्र के ध्वनिवाहकों का।
सारा राष्ट्र एक बार पुनः
रावी नदी के तट पर,
नृत्य-पूर्ण अवस्था में,
की गयी अपनी ध्येयप्राप्ति की
भीष्म प्रतिज्ञाओं का स्मरण करेगा।

–२–

२६ जनवरी आती है;
लोग स्मरण करते हैं––
लोकमान्य तिलक को,
महात्मा गांधी को,

जवाहरलाल नेहरू को;
उन व्यक्तियों को,
जो स्वातन्त्र्यप्राप्ति के
ध्येय को पूर्ण करने के
लिये अपने आपको
स्वाहा कर गये।
पर,
जब-जब
ऐसे अवसर आते हैं,
जाने क्यों,
मुझे हठात् स्मरण हो आता है–
महर्षि दयानन्द का।

२६ जनवरी का
महर्षि दयानन्द से
क्या सम्बन्ध ?

किन्तु यह एक तिथि ही क्या,
वर्ष की प्रत्येक तिथि
उस युग-पुरुष के साथ
सम्बद्ध है !

राष्ट्र ने कभी भूलकर भी
इस ऋषि को
सामूहिक रूप में स्मरण किया है ?

—३—

अन्धकारपूर्ण अमानिशा को
सुषुप्त अवस्था में पड़े,
करवटें बदलने वाले
राष्ट्र को
यदि किसी ने सर्वप्रथम
झकझोर कर जागरित किया था,
तो वे महर्षि दयानन्द ही थे।
उन्होंने ही सर्वप्रथम
राष्ट्र के अन्तःकरण में,
स्वातन्त्र्य की आकांक्षा को
जन्म दिया;
उन्होंने ही उस आकांक्षा
को वाणी का रूप दिया;
उन्होंने ही उस वाणी के
स्वरों में,
जागर्त्ति का संगीत
भरने का प्रयत्न किया;
वे स्वर भारतीय आकाश में,
आज भी उन्मुखर हैं,
आज भी गूँज़ रहे हैं।

—४—

हमें आश्चर्य तो इसी बात का है
कि क्यों नहीं राष्ट्र ने

उस ऋषि को पहचाना ?
क्यों नहीं उसके बताये
सरल मार्ग का अनुसरण किया ?
क्यों उसकी
ऐसी निर्मम उपेक्षा की ?
आज, जब कि,
स्वातन्त्र्य का मायावी आलोकपुञ्ज
हमें पथभ्रष्ट कर रहा है,
महर्षि दयानन्द के बताये
मार्ग के अनुसरण की
सबसे अधिक आवश्यकता है !
इतनी बड़ी विपत्ति,
इतनी बड़ी उलझनें,
इतना अधिक दुःखपूर्ण काल
इससे पूर्व कभी भी उपस्थित नहीं हुआ था ।
जितना घनीभूत अन्धकार
हमारे राष्ट्र के सम्मुख आज है,
उतना अब तक कभी नहीं था ।
इन विषम घड़ियों में,
आज भी
महर्षि दयानन्द के अन्तःकरण की दीप्ति आकाश में
ज्वाला उठा रही है ।

आज--

इस १६४७ के जनवरी मास की
२६ वीं तारीख के दिन,
दूर, एकान्त-उपेक्षित कोण में,
महर्षि की वह धधकती हुई
ज्वाला
हमें स्पष्ट दीख रही है--
स्पष्ट दीख रही है !

–५–

मेरे राष्ट्र !
कब तुम उन ज्वालाओं के
निष्कलुष प्रकाश में,
अपने ध्येयमार्ग पर
बढ़ना सीखोगे ?

महर्षि दयानन्द ?--
२६ जनवरी ?--
हाँ, महर्षि दयानन्द–२६ जनवरी–
स्वातन्त्र्यप्राप्ति के दृढ़ निश्चय की
प्रथम पुण्य तिथि !

मुंबई,
२६. १.'४७ ई०।

अलक श्यामल

(गुन-गुन)

अलक श्यामल नीर-भरे रे,
पलक उभय पीर-भरे !
बहता जिधर भार व्यथा का,
उधर ही बही जाय रे, मेरी
मधुर जीवन-धारा;
आकाश-प्रदीप जाग उठे जब,
भाग जाता तब
जीवन का मेरा
अशुभ अंधेर सारा;
हरता तिमिर धरा का सकल,
मन्थर, राजत प्रकाश-कुसुम झरे ।
अलक श्यामल नीर-भरे रे,
पलक उभय पीर-भरे !

पुणें,
१०. ८.'४७ ई० ।

पथ-बाधा

थम सकेंगे राष्ट्र के रथ-चक्र
ध्येय-पथ पर,
समझ कर
पथ है विकट, उद्धात-संकुल,
दूरगामी, वक्र ?

सत्य है, तम-आवरण घनतर
छा रहा उस ओर—सम्मुख—
क्षितिज की उस सूक्ष्म रेखा पर ।
किन्तु
जायँ यदि छिप भी कभी
आकाश से
दिनमणि तथा शशधर,
छीन पायेगा न कोई
ज्योति वह इस राष्ट्र की,
जगमगाता जा रहा है
स्वयं जिससे विश्व का अन्तर !

हो भले ही ध्येय अब भी दूर;
हो भले ही पथ

विषम पाषाण-निर्मित
शंकुओं के निचय से भरपूर !
धैर्य का–
निज ध्येय की अश्रान्त श्रद्धा का,
रुचिर पाथेय जब है साथ में,
एक दिन ये विघ्न-बाधायें स्वयम्
जायँगी हो ध्वस्त-चकनाचूर !

मुंबई,
१३.८.'४७ ई०।

मेरा देश स्वतन्त्र हो गया !

(निविद्)

हे चिरन्तन,

हे चिरोज्ज्वल,

आज मेरा देश स्वतन्त्र होगया ।

अनेक शतकों की बन्ध-शृंखलायें विदीर्ण हो गईं ।

निरभ्र, निर्मेघ, निष्पटल हो गया मेरे देश का आकाश ।

आज प्रकाश का अप्रतिरुद्ध प्रवाह

बह निकलेगा—अखण्ड ज्योतिर्दान करता हुआ—

विश्व के आकुल, तमिस्रापूर्ण अन्ध-कोणों में !

मेरे आकाश की दूरस्थ क्षितिज-रेखा

खिलखिला उठेगी;

चमचमा उठेंगे वे विप्रकृष्ट सीमान्तबिन्दु—

इस नवीन आलोक की चपल विद्युत्क्रीड़ा से !

धरित्री के अधर मुस्करा उठेंगे !

विश्व-सृष्टि स्वातन्त्र्य के

इस अभिनव सौरभ का

उन्मुक्त श्वास समीर पा,

गन्ध-मुग्ध हो उठेगी !

कहाँ रहेगा विषाद ?

कहाँ–कहाँ रहेगा यन्त्र-निष्पीडन ?
कहाँ रह जायगा जीवन का
निष्प्राण, जड-श्लथ, दु:ख-भरा दीर्घ नि:श्वास ?
सर्वत्र गीत की पंक्ति होगी;
सर्वत्र नृत्य का पादविक्षेप होगा;
सर्वत्र कण्ठ-निर्मुक्त उल्लास का
हर्ष-निर्घोष होगा–
ऊँचे-ऊँचे-ऊँचे-बहुत ऊँचे !

मेरे चिरन्तन,
मेरा देश स्वतन्त्र होगया !
मेरी धरा स्वतन्त्र हो गई !
मेरा आकाश स्वतन्त्र होगया !
मेरा प्रकाश स्वतन्त्र होगया !

हे मेरे अन्त:करण की चिराराध्य,
अनन्तस्फूर्तिदेवते !
स्वातन्त्र्य के इन अनिन्द्य प्रहरों में,
स्वातन्त्र्य के इन मुखर रागालापों के बीच,
स्वातन्त्र्य के इन निनादित जयवाद्यों की
अमन्द-मंगल ध्वनियों के मध्य,
मैं तुम्हारे युग-चरणों में–
अपनी स्वातन्त्र्यगर्वित मूर्द्धा
नत करता हूँ !

तुम्हारी चरण-रज
अनन्त काल तक
इस स्वातन्त्र्यपुलकोत्कम्पिता वसुन्धरा के
अविच्छिन्न पृष्ठ-भाग पर,
नित्य-नूतन सुगन्ध को सृष्टि करती रहे—
अमृत-पुष्पों की वृष्टि करती रहे !

हे चिरन्तन,
हे चिरोज्ज्वल,
आज मेरा देश स्वतन्त्र हो गया—
मेरा देश स्वतन्त्र हो गया !

३६८, सोमवार पेठ,
पुणें,
२५.८.'४७ ई०।

यह कोई गुप्त सन्देश है ?

(निविद्)

विश्वजननि,
आज आकाश से बूँदें धरती पर गिरी आ रही हैं ।
धरती की हरियावल भींग रही है ।
सुदूरवर्ती आलोक-बन्धु उन नक्षत्रों का
यह कोई गुप्त सन्देश है, जो मैं सुन रहा हूँ ?

कितना विराट् है यह विश्व !
कितनी अविस्फुट है विश्व की यह गीत-ग्रन्थि !
गीत मुखर हो उठता है;
लिपटे हुए स्वर-तन्तु विस्तार पाने लग जाते हैं ।
एक मृदुल निनाद-झञ्झा
फेंक देती है इन स्वरों को चतुर्दिक् !
अनन्त कोणों में, अनन्त सीमाओं में,
बिखर जाते हैं वे--सहस्र, लक्ष, अर्बुद की
संख्या से !
वे ही स्वर-सूत्र हमको भी परिवेष्टित कर डालते हैं--
ग्रन्थि पड़ जाती है !

विश्व का वह एकान्त केन्द्र-बिन्दु कहाँ है ?
विश्व-वीणा के स्वरों का वह आदि-उद्गम कहाँ है ?

वीणा आज भी झंकार उठा रही है।
माङ्गल्य का प्रवाह का प्रवाह
वेगपूर्वक
ब्रह्माण्ड के धारा-मार्गों पर गतिमान् हो रहा है।
स्फुरण के अनन्तर स्फुरण-
तारकम्पन के अनन्तर तारकम्पन
हमारी असंख्य धड़कनों को
एक ही ग्रन्थि में पकड़ते जा रहे हैं।
हम बँधते चले जा रहे हैं--
उन अनवरत झंकारों के
विद्युत्तारों के द्वारा !

वह वीणा कहाँ है ?
किसके दक्षिणपाणिगत कोण के आघात से
वीणा के तारों पर प्रस्फुरण हो रहा है ?
हम अल्प, हम लघु, हम व्यामुग्ध
पा सकेंगे विश्व के
इस शाश्वतिक रहस्य के
विशाल पारावार के चरम तल को ?

एक देश स्फुट है।
एक देश की स्फुटता के
उपरितम स्तर के नीचे ही
कितनी अथाह अविस्फुटता
नृत्य कर रही है--ऊर्मियाँ उठा रही है !

अविज्ञात-अविज्ञात !
विश्व की एक-एक ग्रन्थि अविज्ञात !
महान् है वह वैद्युतिक आलोक-प्रवाह !
प्रवाह में असंख्यात हैं--आवर्त्त-व्यावर्त्त ।
वे आवर्त्त ही--वह ग्रन्थि ही-तो
दृश्यमान सृष्टि की चपल क्रीड़ा है !

वही आलोक है ।
वही ध्वनि है ।
वही ताप है ।
वही गति है ।
वही स्थिरता है ।
वही एक है ।

लघुत्व-गुरुत्व,
सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट,
नवीन-पुराण,
पूर्व-पश्चिम,
अधर-उत्तर--
क्या है उस प्रवाह में ?
श्रव्य क्या है ? श्रवण क्या है ?
गेय क्या है ? गान क्या है ?
स्पृश्य क्या है ? स्पर्श क्या है ?
आकर्षण-आकर्षण !--शक्ति-शक्ति !
यही है आलोक--यही है तमिस्रा ।

यही है मृदु——यही है कठिन !
यही है आलिंगन——यही है प्रत्याख्यान !
जहाँ सापेक्ष है——वहीं है विभेद——
वहीं है प्रपञ्च——वहीं है दूरी–सान्निध्य——
वहीं है कटु-मधु ।
जहाँ निरपेक्ष है——वहाँ सभी शून्य है——
वहीं सर्व है——वहीं सर्व है !

क्या हम केन्द्र-विभ्रष्ट हैं ?
वे सूर्य, वे ग्रह, वे नक्षत्र, वे उल्काएँ,
वे चन्द्र——क्या वे सभी केन्द्र-विभ्रष्ट हैं ?
यह कैसा इन्द्रजाल है ?
किस ऐन्द्रजालिक ने हम लघुओं को
केन्द्र-बिन्दु से दूर-दूर,
अजस्र परिधियों के विकीर्ण स्थानों पर
डाल दिया है ?

हम विकीर्ण बिन्दु एक-दूसरे को देखते हैं;
एक-दूसरे के प्रति पूर्व-परिचय का संकेत करते हैं;
दूर खड़े-खड़े हाथ हिलाते हैं——पास बुलाते हैं !
हम पृथ्वी पर खड़े,
नक्षत्रों को अपने समीप आने का इंगित करते हैं ।

नक्षत्र
हमें अपने समीप आने का इंगित करते हैं ।

पर
एक दूसरे से कितने दूर हैं हम ?
कितने विश्लिष्ट ?
हमारी ध्वनि नक्षत्र नहीं सुन पाते ।
नक्षत्रों की ध्वनि हमें आकर्णित नहीं हो पातीं ।

धरित्री का उच्छ्वास
वहाँ पहुँचने के लिये लालायित हो उठता है,
जहाँ से धरित्री के लिये बुलावा आ रहा है ।

पर कितना शक्तिशाली है
विश्लेष का आवरण !
धरित्री का उच्छ्वास वहीं थम कर,
वहीं से परवश अश्रुबिन्दु के रूप में,
पुनः धरित्री के हरिताभ आँचल को
आर्द्र करता हुआ ढुलक पड़ता है ।

विश्वजननि,
यह विश्लेष का आवरण क्यों ?
यह किसकी कृति है ?
परिधिनिष्ठ बिन्दुओं को
केन्द्र-बिन्दु के सान्निध्य के अभाव में,
एक-दूसरे से मिलने का अधिकार नहीं ?
केन्द्र से जितनी दूर
वे बिन्दु हटते जायेंगे,
उनका पारस्परिक विश्लेष

बढ़ता हो जायगा;
वे अनन्त इच्छाओं, अनन्त आकर्षणों के
रहते भी
एक दूसरे से
दूर-दूर होते चले जाने के लिये
विवश हैं।

बिन्दुओं–बिन्दुपंक्तिरूप रेखाओं को
केवल दो ही गतियों का अधिकार है—
केन्द्रप्रतिमुख गति का
तथा केन्द्राभिमुख गति का।

केन्द्रप्रतिमुखता ही विच्छेद है;
विभेद है; अनेकत्व है; द्वैत है।
जब परिधिगत समस्त बिन्दु
शनैः-शनैः केन्द्राभिमुख हो, अग्रसर होते हैं,
तब विश्लेष, विच्छेद, विरह, विग्रह सभी
शनकैः विलुप्त होते जाते हैं।
पारस्परिक अन्तर क्षीण हो जाता है।
केन्द्र पर पहुँच कर सभी तदेकाकृति हो जाते हैं।

वे अर्बुद-न्यर्बुद बिन्दु,
जो परिधि पर
अनेक संख्याओं के विस्तार में थे,
केन्द्र पर पहुँचते ही

एकमात्र केन्द्र-बिन्दु बन जाते हैं ।
वह एक केन्द्र-बिन्दु भी अकेन्द्र हो जाता है ।

जब वृत्त ही नहीं, परिधि ही नहीं,
तब केन्द्र कहाँ रहा ?
जब सभी अवृत्त, अपरिधि हो गये,
तब केन्द्र भी अकेन्द्र हो गया–
'एक' भी सत्य अर्थ में 'अनेक' होगया–
शून्य हो गया !

वह 'एक', जिसने अपने ही उदर से
सहस्र-सहस्र संख्याओं को जन्म दिया था,
उन समस्त संख्याओं को
अपने में सम्पिण्डित करके
स्वयं शून्य में परिणत हो जाता है ।
जब तक शून्य से बाहर हैं,
तभी तक विश्लेष का आवरण है ।
एकाभिमुखता में संश्लेष है ।
पर शून्य में–
न विश्लेष–न संश्लेष–
वह तो गाढ़ श्लेष ही श्लेष है ।

जननि,
यह अवस्तु,–गाढ़ श्लेष,–गाढ़ मिलन ही
तुम्हारा अंक–तुम्हारा क्रोड है न ?

ममतामयि,
यह सब तुम्हारी ही क्रीडा है।
तुम्हारे स्नेह–सिन्धु ही में,
हम सब की क्षुद्र किन्तु पवित्र जीवन-धाराएँ
दशों दिशाओं से प्रवाहित होकर,
एकाकार–एक-उर्मि होने वाली हैं।

आज,
संसार का सौन्दर्य बिखरा पड़ा है।
रस बिखरा पड़ा है।
स्वास्थ्य बिखरा पड़ा है।
शक्ति बिखरी पड़ी है।
असंख्य सौन्दर्य की मुग्ध मूर्तियाँ
हमारी आँखों के सामने से
निकल जाती हैं;

पर वे
हमारी नहीं बन पातीं।
हम युगपत् उन सबका आस्वाद
नहीं कर पाते।
न हमें अधिकार है,
न सामर्थ्य ही।
इच्छा भर रह जाती है !
हमें तो जननि,
केवल एक ही अधिकार है

ग्रौर वह है
तुम्हारे उत्संग-बिन्दु के
ग्रभिमुख धावित होने का ।
हम जब तेरे निकट पहुँचेंगे,
संसार का समस्त विकीर्ण-विश्लिष्ट
रस–सौन्दर्य
हमारे साथ ही वहाँ पहुँच जायेगा ।

तभी हम तृप्त हो सकेंगे–
तभी रस-स्निग्ध हो सकेंगे ।

जननि,
ग्रभी कितना ग्रवकाश है ?
हम सब तेरी ही ग्रोर बढ़े ग्रा रहे हैं न ?
या तुझसे दूर हटते जा रहे हैं ?
ग्रनुमान तो यही है कि
ग्रनेक उल्कायें चन्द्र की परिक्रमा कर रही हैं ।
और साथ ही चन्द्र के ग्रभिमुख भी बढ़ रही हैं ।
चन्द्र ग्रपने परिवार के साथ
पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है
ग्रौर उत्तरोत्तर पृथ्वी के ग्रभिमुख–
समीप–बढ़ता जा रहा है ।

पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा लगा रही है
ग्रौर उत्तरोत्तर सूर्य के निकट भी होती जा रही है ।
सूर्य ग्रपने सौर परिवार के साथ

किसी अन्य बृहत् सूर्य की परिक्रमा लगा रहा है
और उत्तरोत्तर उसके समीप–समीप जा रहा है।
बृहत् सूर्य अपने बृहत् सौर परिवार को लेकर
बृहत्तर सूर्य की परिक्रमा लगा रहा है
और वह उसके समीप भी जा रहा है।
बृहत्तर सूर्य अपने बृहत्तर सौर परिवार के सहित
बृहत्तम सूर्य की परिक्रमा लगा रहा है।
और उसके समीप भी जा रहा है।
यही परम्परा आज चल रही है।
और इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड-बिन्दु
ब्रह्माण्ड-केन्द्र की परिक्रमा कर रहे हैं तथा
वे उत्तरोत्तर ब्रह्माण्ड-केन्द्र के अभिमुख ही बढ़ रहे हैं।

तब जननि,
कब वह महा मिलन होगा ?
कब हमारी युग-युगान्त की
अतृप्त आकांक्षाएँ
उस अपरिमेय आकांक्षापूर्ति के
एक-सन्निधान में सन्निविष्ट हो,
तद्रूप–तद्भूत–'तद्' एवं 'तदवस्तु' के रूप में,
प्रलीन हो जावेंगी ?

विश्वजननि,
आज आकाश से बूँदें धरती पर गिरी आ रही हैं।
धरती को हरियावल भींग रही है।

सुदूरवर्ती आलोक-बन्धु उन नक्षत्रों का
यह कोई गुप्त सन्देश है, जो मैं सुन रहा हूँ ?

पुणें,
२५.८.'४७. ई० ।

दिवस का उदय

दिवस का उदयकाल।
धुल गया किरणों की
ज्योतिर्जलधाराओं से
व्योमवीथियों का सारा
पंकिल रे, तिमिरजाल।

*   *

खिल उठे, हँस उठे,
नाच उठे यत्र-तत्र,
नीरव औ' सरव सभी
हर्षोज्ज्वल वसुधा के
अंगणगत कुसुमबाल।

*   *

आओ, इस ज्योति-मध्य
अन्तर का तत्त्व भरें,
अन्तर का सत्त्व भरें,
सुरभि भरें, हास भरें,
सुरभि-हास-मध्य भरें
आर्द्रता तुषारानिल की।

विश्वबन्धुता के वृष्टि-
जल से प्रपूर्ण, पुनः
चमक उठें एक बार,
अभिनव सृष्टितरु-
शिशुओं के ऊधस्-से
आलवाल।
दिवस का उदय काल।

पुणें,
२०. ११.'४७ ई०।

प्रणति-पुष्प

[स्वतन्त्र भारतमाता की वन्दना]

मां ओ, मां ओ, मां ओ !
हम शिशुओं के मिलित करों से प्रणति-पुष्प पाओ !
मां ओ, मां ओ !

जीवन में स्वर भरें।
मधुरतम स्वर में मां, यह
अपना अन्तर भरें।
लिये ध्वजा रविरश्मि-चक्र की
तमस्त्रस्त इस विश्व-व्योम को
हम आलोकित करें।
मां ओ, मां ओ, मां ओ !

हम शिशुओं के मिलित करों से प्रणति-पुष्प पाओ !

करें स्वस्थ, चैतन्ययुक्त भव सारा।
भरे हास, कल क्रीड़ा;
कुण्ठित करें कलुष को कारा।
जहाँ-जहाँ हो तप्त मरुधरा,
वहाँ-वहाँ हम करें प्रवाहित
मां, तेरी यह शीतल-मञ्जुल,
मधुर जाह्नवी-धारा !

मां ओ, मां ओ, मां ओ !

हम शिशुओं के मिलित करों से प्रणति-पुष्प पाओ !

हम तन्द्राकुल, सुप्त सृष्टि को
करें सचेत–जगायें;
मानवता के भग्न हृदय की
निबिड तमिस्रा को
हम दूर भगायें;
नव प्रकाश, नव हर्ष-हास,
नव-नवोल्लास से पूर्ण
पुनर्नव प्रगति-गीत गायें !
मां ओ, मां ओ, मां ओ !
हम शिशुओं के मिलित करों से प्रणति-पुष्प पाओ !
मां ओ, मां ओ !

पुणें,
२५.११.'४७ ई० ।

विजन में भी

विजन में भी
गीत का सौरभ भरा आली,
विजन में भी
कुसुम-धारा-प्रवर्षण से
धरा यह उर्वरा आली,
विजन में भी
अविस्वर बह रहा
सन्ध्या-समीरण—
पक्षियों के कण्ठ-सा
लहरा-हरा आली,
क्यों न मैं भी सिर छुपा लूँ
इस विजन के
स्निग्धतम उत्संग में,
एक तरु का पत्र बन कर—
शिशिर-मारुत का झरा आली !

* *

विजन में,
मग्न सरि की
ऊर्मियों का नृत्य होगा,

भग्न अन्तर का विषम
होगा न हाहाराव आली,

विजन में,
व्योम की तारा
मधुर क्रीड़ा करेगी–
पुष्पकलिकारूप में अवतीर्ण होकर;
न होगा दग्ध कारा-मन्दिरों का
बन्ध-भार-ग्रस्त, परवश भाव आली,

विजन में,
सुनहरी रवि-रश्मियाँ
खिल-खिल उठेंगी–
पल्लवों के संग हिल-मिल,
प्रखरतर शरविद्ध मृगियों का न होगा
ऊष्ण शोणित से नहाया छटपटाता घाव आली,
क्यों न मैं भी
विजन ही की धूल में,
निःशेष हो जाऊँ ?
न होगा व्यर्थ कवि के
गान का वह आर्त अश्रुस्राव आली !

पुणें,
५. १२.'४७ ई०।

कौन रस-राग ?

रह गया इस जिंदगी में,
कौन-सा रस-राग रे !
जिंदगानी क्या हमारी,
एक भभकी आग रे !
मिल गया तारुण्य का—
कर्तृत्व का
उन्माद मिट्टी में;
किसलिये हे मन, तुझे इस
जीर्ण-जर्जर जिन्दगी से
मोह या अनुराग रे ?
आज तू
निष्प्रभ, निरादृत,
चिर-विगर्हित,
चिर-विलाञ्छित ।
विश्व क्या ठुकरा न देगा
आज तुझको
एक नीरस हास्य हँस कर ?
विश्व की उस दृष्टि में अवगणित होकर,
जिन्दगी अपनी बिताना
तू पसन्द बता, करेगा ?

क्यों न झंझट से छुड़ाकर पिण्ड अपना,
सृष्टिकी इस विरसता का
आज करदे त्याग रे !
कौन जाने,
सृष्टि की इस
दृश्य सीमा से परे ही
मिल तुझे जावे
जगत् के
सूक्ष्मतम आनन्द का परभाग रे !
और तेरा चिर-विमूर्च्छित,
मृत-मुमूर्षित
भाग्य जावे जाग रे !

रह गया इस जिंदगी में,
कौन-सा रस-राग रे !
जिंदगानी क्या हमारी,
एक भभकी आग रे !

श्रद्धानन्द-बलिदान भवन,
दिल्ली,
८. ६.'४८ ई० ।

दूर कैसे ?

दूर कैसे ?
जब कि इतनी पास हो तुम !
एक अद्भुत-सा अँधेरा
जिस समय करने मुझे
निजपथपराङ्मुख
छा कभी उठता
गगन की वीथियों में,
उस समय,
घन तिमिर-पट को चीर,
स्मित-सौदामिनी-सा
कौन मुझको पथ दिखाता ?
सजनि, तव मधु, मुक्त-मञ्जुल हास ही तो !
एक लघु ज्योतिःशिखा-सी
तुम सदैव समक्ष मेरे
कर रहीं संकेत उस प्राप्तव्य पद का ।
आज मैं
निश्चिन्त बढ़ता जा रहा हूँ ।
आज मैं
निश्चिन्त, अधिगन्तव्य गिरि के–

शिखर पर,
सोत्साह, चढ़ता जा रहा हूँ ।
मैं थकूँगा—
है यही चिन्ता न तुमको ?
थक सकूँगा ?
जब कि नव नवमल्लिका के
पुष्प की चिर-सुरभि-सी बन,
हर रहीं प्रेयसि, निरन्तर
इस पथिक के थकित अन्तर-
का सकल आयास हो तुम !
दूर कैसे ?
जब कि इतनी पास हो तुम !

दिल्ली,
दिनांक विस्मृत ।

प्रणति तुम्हें

अहे परम-पूज्य-चरित,
प्रथम-प्रथम भारतीय-
राष्ट्र के परमेष्ठी,
ऊर्जस्वल राष्ट्र-प्रभु !
प्रणति तुम्हें, प्रणति तुम्हें,
प्रणति हे, तुम्हारे युग-
चरण-पद्म-पत्रों में !

धन्य हुई जननी तव;
धन्य हुई जननी की
पावनतम गोद, जहाँ
शैशव में किलके तुम;
खेले तुम; हरसे तुम;
सरसे तुम; सरस किया
अमृत - मधुर, मधुर रे,
मधुर मातृ-स्तन्य-पान !

धन्य हुआ वेश्माङ्गण;
धन्य हुए तातपाद;
धन्य हुआ ब्राह्मण-वर्ण;

धन्य हुई आर्य-जाति;
हुई कृतकृत्य अहे,
देखकर क्रीड़ित--
नव-खेलायित-नर्त्तित तुम्हें,
लब्धफला--सफला
यह भारत की वसुन्धरा !
धन्य हुआ विश्व निखिल;
धन्य हुई मानवता !

* *

तुम कूद पड़े
अग्नि के प्रचण्डतम,
तप्त-तप्त,
लौहद्रव-कुण्ड में;
झुलसे;
किन्तु निकले तुम
स्वर्ण-रस-स्नात-से-
दीप्तकाय, ज्योतितकाय;
पश्चिम-अर्णव-मध्य कूद--डूब,
करके स्पर्श
अतल तिमिर-अब्धि का भी
अन्तिम तल,
हसितवदन

निकल यथा आता है
सूर्य
नित्य हर्ष-वीची-वल्लरित
प्राची के अर्णव से—
करता विकीर्ण
नव कान्ति-नव अंशु-प्रभा !

झञ्झा की गति से तुम
घूमे इस देश में;
ध्वनित किया कर्णों में
स्वर
आर्य-राष्ट्र की
स्वप्न-विमुख आत्मा का !

पुष्पों के—प्रसूनों के,
खगों के, सरियों के,
निबिड अरण्यों के,
दुर्गम गिरिमाला के
उच्छृंखल अर्चक, तुम
बन्दी भी बने हो ना,
निर्मम कारा-बन्धनों के ?

फूट उठा कण्ठ-यन्त्र;
अन्तर का आन्दोलित,
फेनायित ज्वलन-पिण्ड

बिखर उठा समन्तात्
जाह्नवी के जल के–
प्रपात के
तुषारों का-सा !

पावन हुआ मित्र-वर्ग,
पावन हुआ शत्रु-वर्ग,
पावन हुआ विश्ववर्ष !

* *

आज तुम
भारत के प्रथम
प्रधान मन्त्री हो !
विश्व के समस्त
अन्य राष्ट्रों के प्रधान मन्त्री
धन्य हुए–
तुम-से नर-ज्येष्ठ को
अवस्थित देख
अपनी ही पंक्ति में !

* *

नम्रहृदय,
कम्रवदन,
भारत की मातृपुरी
दिल्ली–

नहीं-नहीं,
दिल्ली-नई दिल्ली कुछ
इसको कहूँगा नहीं,
कहूँगा इसे ग्राज से
देकर तुम्हारा नाम
'पद्मराग-पत्तन'–
ग्रौ' जनता इस पत्तन को
फूली ना समाती
तुम्हें पा करके ग्रपने बोच !
पद्मराग-पत्तन की
वीथियों में,
मार्ग-परिवेष्टित नव
शृङ्गाटकों–
चत्वरों में,
विद्युद्ध्वनि-यन्त्रों में से
बिखर रहा कण्ठ-स्वर
रत्न-पद्मराग, तव;
बिखरता तुहिनाद्रिका
हिम-निर्भर
विष्वङ्मुख–
नदियों की धारा बन
कलकल-युत,
जग के यथा
समस्त सुप्त कोणों में !

* *

आज तुम खड़े हो
अभिषिक्त,
धृतकण्ठहार,
बालारुण-सदृश
मध्य जन-सागर के;
जय-क्ष्वेडारव-पूर्ण
कोलाहल-मध्य !
आज तुम भारत की—
बने हो एक-मूर्त्ति ।
युग-युग के स्वप्न
हम अधन्य मनुजों के
आज,
तुम में ही
हुए हैं हे परम पूज्य,
एकीभूत ।
ममता, मोह, अनुरक्ति,
आकर्षण-सभी कुछ
हमारा तुम आहृत हो
कर रहे
बलपूर्वक,
अपनी ही ओर चपल !

देख तुम्हें,
निश्चय ही नेत्र भर आते
और
कण्ठ रुँध आता–
देह होता रोम-कण्टकित;
झुक आती मूर्धा
तथा
वृत्तियाँ समस्त इस चित्त की
हठपूर्वक
धावित हो उठतीं
तव चरणों की दिशा में आज !
कर चाहते हैं
लेना धूल
उस वसुधा की,
जहाँ पड़ते हैं
पवित्रतम
पग वे तुम्हारे पूज्य !

* *

चाहता हूँ,
एक दिन,
पैर मैं तुम्हारे
पकड़ूँ इन हाथों से

ग्रौर

टेकूँ यह माथा वहाँ;
द्रवित नेत्र-वारि से
प्रक्षालित करूँ मैं उन्हें;
छोड़ूँ ही न
कितना भी कहने पर तुम्हारे;
तुम बलपूर्वक
उठा के मुझे
वक्ष से लगालो,
कस डालो निज भुज-युग में।
मिट जाऊँ तब मैं ही
ग्रौर
मेरा यह 'ग्रहन्त्व'
मिट जाये;
मिट जाये मेरी यह
क्षुद्रतम सत्ता सदा के लिये !

चाहता हूँ,
फूल बन जाये
जीवन यह,
रौंद डालो जिसको तुम
ग्रपने चरणों से पूत।

जीवन जो
आज तक आया नहीं
काम में किसी के हन्त,
कम यह होगा पुण्य
उसका—यदि पा ले वह
एतादृश अपना अन्त ?

अहे परम-पूज्य-चरित,
प्रथम-प्रथम भारतीय—
राष्ट्र के परमेष्ठी,
ऊर्जस्वल राष्ट्र-प्रभु !
प्रणति तुम्हें, प्रणति तुम्हें,
प्रणति हे, तुम्हारे युग—
चरण-पद्म-पत्रों में !

दिल्ली,
दिनांक विस्मृत ।

मां तुम्हारे नेत्र

मां, तुम्हारे नेत्र क्यों चिन्ता-विकल ?
घन तिमिर पथ पर भले हो,
हो भले ही
निबिडतम तम से समावृत व्योमतल;
किन्तु अन्तस् में तुम्हारे–
ज्योति वह वर-विश्ववन्दित, ध्रुव-अचल;
जागता है विश्वपावन, दिव्य बल;
तुम बढ़ो निःशंक,
जग के कठिन खर-करवाल-पथ पर ।
जिस जगह पड़ जायँगे वे
अमर कुसुमित पद तुम्हारे,
उस जगह स्वयमेव
करने तिमिर का अपहार
शत-शत
जल उठेंगी दीपकों की पंक्तियाँ मां,
चिर-समुज्ज्वल – चिर-विमल ।
मां, तुम्हारे नेत्र क्यों चिन्ता-विकल ?

नई दिल्ली,
(दिवाली) सन् १९४८ ई० ।

कब होगा ?

कब होगा–कब वह आत्मप्रलय ?
जब मैं अपनी इन बाहों में
अँकिया लूँगा यह व्योम-निलय ।

वे दूर - दूर के जीवलोक
लूँगा अपने हो निकट खींच ;
आलोकपुष्प के वर्षण को
प्रकटित होगी क्रीडा अक्षय ।

मेरा 'बन्धन' 'उन्मुक्ति'-संग
मिल हो जावेगा एकजीव ;
मेरी पीड़ायें जीवन की
अमृतानुभूति के संग-संग
होंगी उन्नर्तित थय्–थय्–थय् ।

उठ, मेरे जीवन जाग - जाग ;
इन सीमाओं का मोह त्याग ।
लिपटाले आगे बढ़ स्मितमुख–
हो, मृति को अन्तर से निर्भय ।

मृति तुझमें पा जावेगी लय;
तू मृति में पा जावेगा लय;
जीवन औ' मृति की सीमा पर
होगा असीम का अरुणोदय ।

दिल्ली,
दिनांक विस्मृत,
(सन् १९४८ ई०) ।

तुम हुए पार

हे पुण्य-श्लोक,
चिर-अभिवन्दित,
हे युग के कुसुमित कण्ठहार !
तुम हुए पार–
तुम हुए पार;
तर गये जटिल,
जड़ जीवन का
उत्पातपूर्ण यह अन्धकार !

*

ध्रुव है जीवन का मृत्यु - वर्त्म;
ध्रुव आत्म-तत्त्व का विप्रयोग;
ध्रुव भस्म-शेष यह गात्र-पिण्ड;
ध्रुव भग्न-नग्न भव-भाग्य-भोग;
तब क्यों वियोग - विच्छेदों में,
यों अद्भुत श्रद्धा रखते हैं
बापू, हम जग के अधम लोग ?

*

हमने क्या सोच-समझ बापू,
था किया तुम्हारे वक्षस् पर,
मारात्मक गोली का प्रहार ?
क्या छीन लिया तुमसे हमने
वह बहा तुम्हारे पावनतम,
शोणोष्ण रुधिर की अल्पधार ?

*

तुम करने आये थे इंगित
उस अमर सत्य-पद के अभिमुख,
जिसके सम्पादन के हित ही,
होती आई है युग-युग से
चेतना विश्व की चिर-विह्वल ।
क्या तुम्हें मार हम मनुजों ने
जीवन के उन सब मसलों का,
जो खड़े भुजंगाकृति सम्मुख,
पा लिया शाश्वतिक कोई हल ?

*

क्यों हम यों बहके-बहके-से
बह जाते हैं उत्तेजित हो,
इन अर्थहीन विक्षोभों में ?
क्यों हमको जीवन का अद्भुत

आकर्षण दीखा करता है
इन अदने-सदने लोभों में ?

*

बापू ! तुम हो गये अमर;
होगया अमर वह आराधक –
वह बधिक तुम्हारा–अर्पित कर
चरणों में अन्तिम नमस्कार !
पा लिया एक ही क्षण में सब
उसने तव उर का स्नेह-सार !
हम पर भी बना रहे बापू,
आशीष - पुनीत तुम्हारा वह
सन्तत अन्तर का मधुर प्यार !
हे पुण्य-श्लोक,
चिर-अभिवन्दित,
हे युग के कुसुमित कण्ठहार !
तुम हुए पार–
तुम हुए पार।

नई दिल्ली,
३०. १.'४६. ई०।

हे वीर,

कितने दिवस पूर्व
तुमने किया था वीर,
भारत के भव्यतम
स्वातन्त्र्य का भेरी-नाद ।
आज तक गूँज रहा
उच्चैस्तर घोष वह,
आहवनीय मन्त्र बन,
भारतीय राष्ट्र के
समस्त श्रुतिरन्ध्रों में !

*

सोता था देश तब;
प्रसृत थी तमिस्रा; अरे,
कौन जानता था कब
होगा दिव्य भानूदय-
भारतीय प्राची के
ललाम उदयाद्रि की
सुवर्ण शिखा - रेखा पर ?

किसको थी आशा ? किन्तु
हुए द्रुत उत्थित तुम,
दौड़ गये दूर, लांघी
अब्धि की तरंगमाला;
लांघे तुंग, हिम-संकुल
गिरियों के शिखर धृष्ट;
धावित हो, सवेग, घनी–
भूत – तमश्छायाच्छन्न
व्योम की गुहा में घुसे;
लाये खींच बलपूर्वक,
हठपूर्वक, भास्कर की
प्राभातिक किरणों को–
गूढ़, घनध्वान्तपूर्ण
भारत को भूमि पर।

* *

आयेंगे अनेक युग;
आयेंगे अनेक युग–
धर्मों के प्रचण्ड ओघ;
काल के निर्ममतम
कितने ही फिरेंगे चक्र;
किन्तु तुम्हें भारत की
प्रजा न भूल पायेगी।

प्रतिवत्सर, इसी भाँति,
स्मृति में तुम्हारी, तुम्हें
प्राञ्जल हो, साश्रु, पुष्प–
माला पहरायेगी !

नई दिल्ली,
नेताजी दिवस,
सन् १६४६ ई०।

स्नेह-दीप की बाती !

मैं देव, तुम्हारे स्नेह-दीप की बाती !
यह ज्वलित दीप्ति की धारा
हे देव, तुम्हारे हिम-उद्गम से आती !

मेरी पीड़ा का भार तुम्हीं;
मेरी क्रीड़ा के,
सुख–सपनों के आधार तुम्हीं;
मेरे जीवन की ज्वाला
हे देव, तुम्हारे स्मित-प्रकाश से
खेल रही रस-राती !
मैं देव, तुम्हारे स्नेह-दीप की बाती !

तिल-तिल जलने का नहीं शाप;
यह एक अमर वरदान मुझे !
तुम, मेरे प्राणों की आभा,
मिल गये मूक इन अधरों पर–
बन तरलित ज्योतिर्गान, मुझे !
तुम मेरी, मेरे अखिल विश्व की,
एक सुरक्षित थाती;
गुञ्जित हो, फैलो, विश्वकोण में,

स्वर सुगन्ध से;
मैं उस स्वर में रहूँ गीत ही गाती !
मैं देव, तुम्हारे स्नेह-दीप की बाती !

नई दिल्ली,
७.७.'४६ ई० ।

मत पूछ !

मत पूछ, हृदय की बातें !
छिन ही में होती प्रात यहाँ,
छिन ही में अँधियारी रातें !
प्रियतम तो जाकर दूर बसे,
मुखड़ा वह अन्तर्धान हुआ;
इन निपट अनाड़ी नैनों को
अब कठिन अमियरस-पान हुआ !
जब जलना है, तो ज्वाला से
धधके यह अन्तस्तल मेरा;
क्यों उसे बुझाने आता है,
बरबस नयनों का जल मेरा ?
क्यों मेरे तपते अम्बर में,
घिर आतीं नन्हीं बरसातें ?
मत पूछ हृदय की बातें !

नई दिल्ली,
८. ७.'४६ ई० ।

कैसे कहूँ !

कैसे कहूँ, यह रैन अँधियारी री,
फूल रही जब जीवन की बगिया को
क्यारी-क्यारी री !
दूर गये प्रियतम; पर उर में
उन के सुधि की जोत जगी है।
उनके मुसकाते मुखड़े की
मञ्जु प्रभा नभ से बिलगी है।
कैसे कहूँ, वे पास नहीं,
जब पैठ रही है इन नयनों में
उनकी मूरत प्यारी री !
चमक रहा उन ही की छवि से
नन्हा-सा घर-आंगन मेरा;
नाच रहा लख, तन-मन सखि, यह—
नाच रहा बन-उपबन मेरा;
खिल-खिल, खिल-खिल, खेल रही
उन ही के चरणों को पकड़े
मेरी धरती सारी री !
कैसे कहूँ, यह रैन अँधियारी री !

नई दिल्ली,
६, ७.'४६ ई०।

बोल सकूँगा क्या ?

मैं बोल सकूँगा, बोल सकूँगा क्या ?
हो आत्ममग्न-सा पल भर को
कुछ डोल सकूँगा, डोल सकूँगा क्या ?

निःशब्द, जन्म-मृति के पथ पर,
हूँ बढ़ा जा रहा कण-क्षण कर;
मन की मसोस प्रकटाने यह,
मुँह खोल सकूँगा, खोल सकूँगा क्या ?

यह नन्हीं-सी चिड़िया कोयल,
है कण्ठ लिये कितना मदकल ?
मैं भी इस जैसा जीवन में,
रस घोल सकूँगा, घोल सकूँगा क्या ?

कितना सगीत भरा जग में,
कितनी रुचि इस शाश्वत मग में;
लघु स्वर में आँक अरे, इसका
मैं मोल सकूँगा, मोल सकूँगा क्या ?

२६, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली,
१८.५.'५० ई० ।

मुँद गये !

मुँद गये दृग दो ।
छोड़ नश्वरता गईं तुम
अब अनश्वर हो ।

देह का यह व्यर्थ-सा जड़ भार,
कुछ क्षणों की अवधि में सखि, हो चुकेगा क्षार;
मिल चुकेगा मृत्तिका में औ' सजनि, वह
आज तक का मृत्तिका–निर्मित हमारा
स्वर्ण-सा संसार !
किन्तु वह संसार, प्रियसखि,
जो हुआ निर्मित हमारे 'भाव' से
अनुराग से, स्मित से, प्रणय की चारुता से,
विश्व की कोई परात्पर शक्ति भी
किस विध सकेगी खो ?
मुँद गये दृग दो ।

हो गया है लुप्त केवल स्थूल ।
विश्व का वह अमर-मञ्जुल,
चिर-तरुण सौन्दर्य अब भी

सूक्ष्म का आवरण पहने,
एक सुरुचिर स्वप्न बन कर,
खिलखिलाता, मुस्कराता,
दूर दिव् की ऊर्मि-दोला पर
रहा है भूल ।
होगी सजनि, भारी भूल—
समझ कर अवसन्न तुमको यदि पड़ूँ मैं रो ।
मुँद गये दृग दो ।

२६, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली,
१९.६.'५० ई० ।

ख़ातमा हमारा

(गाना)

हो जायगा किसी-इक दिन ख़ातमा हमारा;
क्योंकर, तड़प न जाये ये आतमा हमारा ?

ये मस्त जिन्दगानी,
रंगीन ये जवानी,
बन जायगी किसी की,
भूली हुई कहानी !

हम रोकने से तेरे भी रुक नहीं सकेंगे;
क्या रोक लेगा उस दिन परमातमा हमारा ?

किस-किस को याद रक्खें,
किस-किस को भूल जायें ?
किस हुस्न औ' मुह़ब्बत
के गीत हाय, गायें;

हो जायगा रवाँ जब दुनियाँ से कारवाँ ये,
आयेगा साथ देने क्या तब जमाँ हमारा ?

ये फूल झर रहे हैं;
पत्ते बिखर रहे हैं;
सब पेड़ और पौधे
मुरझा के मर रहे हैं;

होगा अरे, सभी की यह हश्र जिंदगी का;
इक ख़ाब है ज़मीं ये औ' आसमाँ हमारा।

२६, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली,
२६.६.'५० ई०।

चञ्चल अति चञ्चल !

यह चञ्चल-चञ्चल, अति चञ्चल,
क्यों रहता सखि, मानस प्रतिपल ?
ऊषा आती, यह व्योमपटल
हो उठता रञ्जित; दल-प्रतिदल
सुमनों का होता स्मित-विह्वल;
इन नीरव नयनों में प्रणयिनि,
क्यों आता भर वह नीर तरल ?

नभ में, आभामय, धवल-धवल
है ज्योत्स्ना विधु की शिशिरोज्ज्वल;
हो रहा स्नात यह धरणीतल;
हो रहा स्नात यह दिङ्मण्डल;
पर धू-धू करता धधक रहा
क्यों मेरे इस उर में प्रियसखि,
उच्छ्रिख पीड़ा का वडवानल ?

सखि, तेरा आकर्षण कोमल,
सखि, तेरा वह वीक्षण अचपल,
सखि, तेरी आभा हिमनिर्मल

इस शान्त हृदम्बुधि में मेरे
भर उठती कितना क्षोभ प्रबल ?
कण-कण हो उठता मर्म-विकल ।

मेरी इस दीर्घ समस्या का
सखि, मेरे इस लघु जीवन में,
क्या सुझा सकोगी कोई हल ?
मिट जाये चञ्चलता का छल !

२६, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली,
१०.७.'५० ई० ।

चमक, चन्द्र-तारा

चमक, चमक, चमक, चमक,
दमक, दमक, दमक, दमक,
द्विगुण चन्द्र-तारा !

उदित अद्य पूर्ण इन्दु;
मुदित निखिल बिन्दु-बिन्दु;
द्रवित सकल शकल-शकल,
स्रवित शान्त शर्वरी—
विशुभ्र-द्युति-विलास-वितत-तुहिन.तार-हारा !

हम तथापि अन्ध-अन्ध;
भोग रहे कर्म-बन्ध;
निबिड़ ध्वान्त-वलय-मध्य
बीत रहा हन्त रे,
अनन्त-अमृत-मधुर जन्म—हाय, कलुष-कारा !

पल दो हो अधर-लोल,
हमसे लो, बन्धु, बोल;
अन्तर यह प्राप्त करे
शिशिर स्नेह रञ्च तो ?
--कौन कहे, कौन दिवस भाग्य जगे हमारा ?

२६, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली,
११.८.'५० ई० ।

सौन्दर्य का वरदान

विश्व रे,
कितना विराट्
त्वदीय वह
सौन्दर्य का वरदान !
एक लघु-सा
और सीमित-सा
हृदय का कक्ष मेरा;
कर सकूं सञ्चित
सकल सौन्दर्य की निधि–
ला सकूंगा मैं भला,
इतना कहाँ से स्थान ?

एक ही सौन्दर्य लक्षावधि
स्वरूपों में विभक्ति प्राप्त कर,
हो रहा स्वयमेव लक्षित
लक्ष-गुण !
एक मानव;
एक जड़-सा,
अल्प-अक्षम-सा,

अबल-सा देह;
मग्न-सा, उच्छिन्न-सा
औ अयुत-अयुत–
प्रहारपर्याकुल मनुज का
एक लधु-सा वक्ष
अथच, इस सब पर तुम्हारा
रूप के सौन्दर्य का वह
तीव्र आकर्षण प्रगुण !

क्या करे तुम ही बता दो,
यह अकिञ्चन और अक्षम;
किस तरह निज शीर्ष पर
ढोता फिरे
सौन्दर्य की आकृष्टि का वह
एक बोझ महान् ?

विश्व रे,
कितना विराट्
त्वदीय वह
सौन्दर्य का वरदान !

२६, फिरोजशाह रोड,
नई दिल्ली,
सन् १९५० ई० ।

अथ किञ्चित् संस्कृतवाचमाश्रित्यापि—

१.

आत्मविस्मरणम्

मानसाभ्यन्तरे द्रोहो व्युत्थितः कारणान्तरैः;
आलम्ब्यापि शमम्बाह्यात् किञ्चनः किं करिष्यति ?
भोजनाच्छादनं रम्यं, शयनीयं मनोहरम्,
न मनस्याचितं तापं शीतीकर्तुं प्ररोहति ।
सुहृद्भिः किमु भाष्येत, किमालाप्येत बन्धुभिः,
मन एव यदा नूनं विप्रियाचारितां गतम् ?
वर्षतीष्वम्बुधारासु निर्भराकारितासु हि;
क्लिन्नेष्वपि च गात्रेषु नान्तर्वह्निः प्रशाम्यति ।
द्रुमच्छायान्विता भूमि र्नवशष्पोपलालिता,
नीहारकणिकास्तीर्णा नाशान्तस्य गदं हरेत् ।
कामं स्थलात्स्थलं गच्छेत्, कामं भुञ्जीत खाद्यकम्,
उदरं पूरयेत्कामं तुषारैर्मिश्रपानकैः;
न पुनर्विपरीतस्य दह्यमानस्य चानिशम्—
चित्तस्याराधनं किञ्चिद् आधातुं व्यवसेद् बुधः ।
न चाभिलाषो भाग्यस्य, नियोगस्य पदस्य वा,
न च ख्याते र्न लोकेऽस्मिन् साफल्यस्य स्पृहा क्वचित् ।

मदीयं वाञ्छितं किञ्चिद्यद्यत्र वसुधातले—
तदेव केवलं, येन सम्भवेदात्मविस्मृतिः ।
आत्मविस्मरणं नूनमौषधानां महौषधम्,
संसारगरलोद्गार स्तेनैवैकेन शाम्यति ।
यदाह्लादकरं लोके, यदात्मानन्दनम्पुनः,
सहस्रदुःखसन्तापव्याधेर्हानं तु यन्महत्,
आत्मविस्मरणं तत्तु न जाने, केन लभ्यते
दग्धज्वालावलीढेस्मिन्नपुण्ये विश्वमण्डले ?

कनॉट प्लेस,
नई दिल्ली,
५.८.'४६ ई० ।

२.

परिरम्भणं ते !

त्वच्चिन्तनं सुमुखि, चित्तगदार्त्तिहानम्;
साक्षात्कृतिर्नयनयोः परमोत्सवाहः;
वाक्यानि ते सुतनु, कर्णरसायनानि;
तत्किम्भविष्यति तु यत्परिरम्भणं ते ?

कनॉट सर्कस,
नई दिल्ली,
५. ८. '४६ ई० ।

३.

वृथापरिवीक्षितम्

रम्येक्षणे, ननु वृथापरिवीक्षितेन
द्राघीयसा भवति किम्बत लोचनाभ्याम्;
न भ्रूलता, नहि दृशोस्तव पक्ष्मपातः,
ओष्ठेङ्गितानि च न यत्प्रतिमानयन्ति ?

संसद् भवन,
नई दिल्ली,
सन् १९४९ ई० ।

४.

मरणाद् बिभेषि ?

पूर्तिं गते वयसि पश्य, तरुच्छदास्ते
निःशब्दमेव धरणीतलमाव्रजन्ति;
पुष्पाण्यपि प्रपतितानि न सन्त्यजन्ति
मन्दस्मितं; कथमये, मरणाद् बिभेषि ?

रायसीना रोड,
नई दिल्ली,
सन् १९५० ई० ।

१०.

वसतु सदैव

विहर, नभःकुहरे; हर, हरितां हृदयमिव स्वरुतेन ।
ऊर्मिशतं परिकल्पय, सजवं व्योम्नि पतत्रधुतेन ॥
खग हे, कुरु, कलकोमलरावम् ।
प्रकटय हे मधुवक्त्र, मनोगतचिरपरिसम्भृतभावम् ॥
त्वयि खलु कूजति कूजतु लोको; द्रवतु महाकल्याणी ।
भुवनतले प्रतिकोणमियं ते कण्ठरुचिरशुचिवाणी ।
प्रवहतु मुखरतरङ्गतरलनदगद्गदगायनगङ्गा ।
स्फुरतु मही स्वरचारुचमत्कृतिचञ्चलकिसलयसङ्गा ॥
व्रजतु लयं लोकस्य हृदन्तर्गतशतचिन्तादाहः ।
शान्तिसलिलमिव सिञ्चतु नित्यं तव रवजवप्रवाहः ॥
अयमानन्दकवे नवनिगदितसुमधुरगीतालापः ।
वसतु सदैव रसिकजनकण्ठे व्यपहृतभवसन्तापः ॥

संसद् भवन,
नई दिल्ली,
दिनांक १४.८.'५० ई० ।

याथात्म्यप्रकाशनम्

नाहं प्रवीणः काव्येषु न चाहं काव्यकर्मवित्;
सत्यं ब्रवीमि काव्यस्य नास्ति नाम्नाऽपि संस्तवः ।
कुतश्चिदपि केषाञ्चिच्छब्दानां यो यदृच्छया
बोधो मय्यस्ति संक्रान्तस्तस्यैवेदम्प्रदर्शनम् ।
न भाषा नच वा भावो नापि गीतात्मवस्तुता
नाभिव्यक्तेश्चमत्कारो येन सेव्येत मे कृतिः ।
मया मोघप्रयत्नेन परेषामनुकारिणा
आत्मनिर्वृतये ह्येव वस्त्विदं विप्रपञ्चितम् ।
अस्मिन् वस्तुनि भाग्येन स्याद्रसाविष्कृतिः क्वचित्;
घुणकीटाक्षरन्यायेनैव सेत्यवगम्यताम् ।
तथापि कालिदासस्य, बाणभट्टस्य, भारवेः,
भट्टनारायणस्याथ जयदेवकवेरपि
कवेर्विशाखदत्तस्य, श्रीमतो विष्णुशर्मणः,
महात्मनो भर्तृहरेश्चाभारोऽस्ति गुरुर्मयि ।
यदस्ति किञ्चिदप्यत्र मूल्यवद्वस्तु वस्तुतः,
तत्सर्वं पुण्यशीलानामेषामेव, न तन्मम ।
यत्र यत्र चरत्येषामात्मा संसारवर्त्मनि
तत्र तत्र विनम्रेण नमः सम्प्रेष्यते मया ।

लेखक की प्रथम रचना

विहग

पर कुछ स्पष्टोक्तियाँ

१.

साहित्य-सन्देश, आगरा, नवम्बर १९५४ :–

पुस्तक में कवि की ५० कविताओं का संग्रह है। कुछ प्रेम सम्बन्धी हैं, कुछ व्यक्तिवादी दृष्टि से प्रभावित प्रकृति, समाज संबंधी। बीच में कुछ संस्कृत रचनाएँ भी संकलित हैं। 'बच्चन', 'पन्त' और 'गुप्त' जी का प्रभाव कवि ने स्वयं माना है। भाषा में कहीं कहीं ठेठ संस्कृत शब्द हैं। कहीं ठेठ अरबी, फारसी, 'प्रकटाती', 'चाकचक्य चकिते', 'अभ्यर्ण' 'कर्तन', 'तन्द्रित' तथा 'खातिर', 'बूचड़खाना', 'शक्ल' जैसे प्रयोग कविता का सौन्दर्य बढ़ाते नहीं है। वाक्यों में भी कमजोरी भासती है। 'प्रभुत्व पूर्णत्वेन' होता है—ऐसे ही कुछ पंक्तियाँ रसविरोध उत्पन्न करती हैं। कवि की मातृभाषा दक्षिणी है; अतः हिन्दी में उनका यह प्रयास स्तुत्य है।

२.

रविवासरीय हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, २ जनवरी, १९५५ :–

यह श्री आनन्दवर्धन की पचास कविताओं का संग्रह है। कविताएँ विभिन्न शैलियों में लिखी गई हैं जिससे ऐसा अनुभव होता है कि कवि ने नई-नई शैलियों में रचनाएँ करने के प्रयोग किए हैं। कुछ कविताओं में संस्कृत-गर्भित भाषा है तो कुछ कविताएँ उर्दू बहुल हिन्दी में लिखी गई हैं। यहाँ तक कि तीन कविताएँ संस्कृत भाषा में भी प्रस्तुत की गई हैं। कुछ कविताएँ तुकान्त हैं और कुछ अतुकान्त। कुछ कविताएँ नियत मात्रिक छंदों में हैं और कुछ कविताएँ मुक्त छन्द में भी हैं।

इन कविताओं में कहीं कहीं बहुत ही सुकुमार भाव व्यक्त हुए हैं। जैसे :

२

'कोयल' कविता में कवि लिखता है:—

"कोयल लहराने लगती है
मेरा दिल हिल उठता है;
जाने किस अखंड रोदन के
रव में रव मिल उठता है;
हम दोनों के हृदय कदाचित्
जुड़े हुए हैं तारों से;
भरे हुए हैं किन्हीं अविस्फुट
दर्द—भरी झनकारों से।"

अधिकांश कविताओं में कवि ने अपनी अनुभूतियों को प्रकृति के साथ एकाकार कर दिया है, जिससे उनकी मर्मस्पर्शिता बहुत बढ़ गई है। 'नभस्तल', 'कोयल', 'तिनका', 'शंखाहूली', 'अमलतास' इत्यादि प्रकृति के अनेक रूपों के साथ कवि ने एकात्मता स्थापित करके अपनी भावनाएँ इन फूलों और तिनकों में आरोपित कर दी हैं।

कुछ कविताएँ पद्यबद्ध होते हुए भी गद्यात्मक हो गई हैं और कहीं कहीं ठेठ संस्कृत शब्दों के बीच में ठेठ उर्दू शब्द आकर कानों में खटक जाते हैं।

यह कविकी कविताओं का प्रथम संग्रह है और कवि अहिन्दी भाषी प्रदेश के निवासी हैं, इसे देखते हुए यह कविता-संग्रह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

३.

सफल जीवन, नई दिल्ली, फरवरी; १९५५ :—

यह लेखक की ५० कविताओं का संग्रह है। ये कविताएं लेखक ने गत दस-पन्द्रह वर्ष की अवधि में लिखी हैं और उन्हें अब संग्रह रूप में प्रकाशित किया है। इन कविताओं में लेखक ने नित्यप्रति की विगत घटनाओं से उद्भूत अपने मन की भावनाओं को व्यक्त किया है। अतः ये कविताएँ भावुकता, सरसता एवं प्रवाह से ओतप्रोत हैं। लेखक गुरुकुल कांगड़ी का विद्यार्थी रहा है, अतः वहां के प्रकृतिमय वातावरण में

निवास एवं अध्ययन के फलस्वरूप प्रकृति की ओर विशेष आकर्षण होना स्वाभाविक है, जिसे उसने अनेक कविताओं में सुन्दरता से व्यक्त किया है। पुस्तक का नाम ही इसका द्योतक है। लेखक ने कुछ कविताएँ संस्कृत में भी लिखी हैं।

कहीं-कहीं मुद्रण त्रुटि रह गयी हैं। भाषा कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक क्लिष्ट हो गयी है। हिन्दी साहित्य के इस नवोदित कवि का हम स्वागत करते हैं।

४

उत्तर प्रदेश पंचायती राज्य, लखनऊ, १ मार्च १९५५ :—

स्वयं कवि के शब्दों में "ये कविताएँ व्यक्तिगत जीवन की कटु-मधुर अनुभूतियों का एक अनिबंन्ध उच्छ्वास है। एक दम व्यक्तिगत।" वैसे तो संग्रह के पचास गीत विभिन्न भावनाओं और अभिव्यंजनाओं से अनुप्राणित हैं; किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक इन गीतों के अन्तरतम में मौन रूप से प्रवाहित करुणा की धारा का सर्वत्र आभास मिलता है। कवि की करुणा का प्रसार व्यापक है। मानवमात्र तक तो वह है ही, प्रकृति के उपकरणों ने भी उसका प्रसाद पाया है। यद्यपि इसकी अधिकांश कविताओं का स्रोत आत्मचिन्तन है; किन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर उसकी भावना ने लोक-मंगल का वरण किया है।

कवि की भाषा भावों के अनुरूप सरल किन्तु गंभीर है। कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों और पदावलियों के दर्शन होते हैं, किन्तु दुरूहता कहीं भी नहीं है। कवि का भाषा पर अधिकार है। अहिन्दी भाषा भाषी प्रांत के निवासी श्री आनन्दवर्धन जी का यह प्रयास सफल तथा सराहनीय है।

५.

सरस्वती, इलाहाबाद, मार्च, १९५५ :—

'विहग' गीतकार की ५० स्फुट कविताओं का संग्रह है। भावव्यंजना के साथ ही कविताओं में पाठक के अन्तर्मन को मुग्ध कर देने की भी क्षमता है। गीतों में जीवन है, तो जीवन को परखने की कला भी है।

६.

आज, बनारस, २२ मई, १९५५ :—

'विहग' ५० कविताओं का संग्रह है। पहली कविता के शीर्षक पर पुस्तक का नाम रखा गया है। इन कविताओं में कवि के व्यक्तिगत जीवन की कटु-मधुर अनुभूतियां अभिव्यंजित होती हैं। जीवन और जगत् के प्रति कवि जागरूक है। उसकी वाणी में मर्म है। कल्पना का पंख पसार कर कवि नयी दिशा का निर्देश करता है। 'कोयल', 'तिनका', 'अमलतास' आदि कविताएँ बहुत सुन्दर हैं। कवि यथार्थवादी है। पुस्तक की छपाई सुन्दर और साफ है।

७.

साप्ताहिक नवभारत टाइम्स, दिल्ली, २४ जुलाई, १९५५ :—

कवि विद्यालंकार जी का 'विहग' कविता-संकलन हमारे सामने है। कवितायें सुन्दर हैं और उनमें हमें जीवन के कटु अनुभव देखने को मिलते हैं। कवि दुःखी रहता है लेकिन समाज में रहकर हँसना भी आवश्यक हो जाता है, इसको कवि ने कितने सुन्दर ढंग से लिखा है—

'कितनी भी असह्य पीड़ा हो
फिर भी जगती के सम्मुख तो
हँसते ही रहना पड़ता है।'

और इसी के साथ कवि आगे कहता है—

'कौन नहीं रोया है सजनी !
आ इस नील गगन के नीचे ?'

ये पंक्तियां हमें जीवन के कटु अनुभवों द्वारा साक्षात् सत्य के दर्शन कराती हैं। सत्य भी है, इस मायामय विश्व में आकर प्रत्येक व्यक्ति को रोना आवश्यक हो जाता है। कवितायें सुन्दर बन पड़ी हैं। प्रेमी कवि डांवाडोल है। स्पष्टतः, वह कुछ निश्चय करने में असमर्थ है। फिर भी वह प्रगति के पथ पर है।

प्रकाशिका : सौ० इन्दुलेखा रत्नपारखी।
प्राप्तिस्थान : २३०, विनयनगर, नई दिल्ली।